गांधी-मार्ग

गांधीजी □ श्रीराम मेहरोत्रा □ भवानीप्रसाद मिश्र
सईदा □ खुर्शीद आलम □ संजय ए. पै
लक्ष्मण सिंह खंगारोत

कुछ ऐसी तान सुनाने वाला कवि

नवंबर–दिसंबर 2012

सृजन स्मरण

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर ।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुमकुम सारा ।

जयशंकर प्रसाद

(1889–1937)

दिल्ली सरकार
टीम दिल्ली – स्वप्न करें साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 54, अंक 6, नवंबर-दिसंबर 2012

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1. सेवाग्राम का गुणा करें	गांधीजी	3
2. ह्यूमः हमें प्यार करते रहे	श्रीराम मेहरोत्रा	6
3. पुतले हम माटी के	सोपान जोशी	18
4. एक अच्छी चीज का बेजा इस्तेमाल	संजय ए. पै	29
5. लापोड़िया गांवः खबरों में नहीं बहा	लक्ष्मणसिंह खंगारोत	33
6. **पुराना चावलः**		
कुछ ऐसी तान सुनाने वाला कवि	भवानीप्रसाद मिश्र	37
7. **पोथी पढ़ि पढ़िः**		
सारा भारत मेरा घर है	सईदा खुर्शीद आलम	45
8. **टिप्पणियां**		55
9. **पत्र**		59

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित
फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734
Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

सेवाग्राम का गुणा करें

गांधीजी

यहां जो विद्यार्थी विद्याभ्यास के लिए आए हैं, उनसे मैं बहुत आशा रखता हूं। मैं ही नहीं, किंतु जनता जो इस काम में रस लेती है वह भी काफी आशा रखती है। हिंदुस्तान में बहुत-से ऐसे पढ़े-लिखे लोग हैं जो हमारे कार्यक्रम की टीका-टिप्पणी करते हैं और निन्दा भी करते हैं। कुछ सिद्धांत की दृष्टि से भी इसका विरोध करते हैं। ऐसे लोगों के बारे में मैं अभी कुछ नहीं कहना चाहता, यद्यपि मैं उसका भी जवाब दे सकता हूं। लेकिन जो लोग इस काम में दिलचस्पी लेते हैं और चाहते हैं कि हम इसमें कुछ हिस्सा लें, उनकी बात हमें सुननी चाहिए। ऐसे लोगों के दिल में खादी, ग्रामोद्योग, गोसेवा, हरिजन सेवा के संबंध में काफी आशा भरी है। उनकी आशा सफल करने के लिए हमें भरसक प्रयत्न करना चाहिए। पेट भरने का साधन पाने के लिए आप अगर यहां आए होंगे तो उससे यह आशा सफल नहीं होगी।

सरकारी विद्यालयों में काफी लोग जाते हैं। वहां डिग्री हासिल करते हैं। वे सोचते हैं कि इस शिक्षा से हम धन प्राप्त करेंगे, कीर्ति हासिल करेंगे, कम से कम सरकारी दफ्तर में क्लर्क बनेंगे या चपरासी तो हो ही सकते हैं। चपरासी थोड़े ही कायम के लिए रहेंगे? आगे तरक्की होगी ही और कुछ पैसे तो यूं ही मिलेंगे। मतलब यह कि वे समझते हैं कि सरकारी नौकरी मिल गई तो जीवन सलामत हो जाता है। यह एक ऐसी बिना है जिस पर गौर करना चाहिए। सरकार ने अपने विद्यालयों में बहुत सहूलियतें दी हैं। बड़े-बड़े मकान दिए हैं, बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियां दी हैं, प्रवास की सहूलियत दी है। इसके मुकाबले में हम कैसे खड़े रह सकेंगे?

इस प्रश्न को हल करने के लिए कई रास्ते मैं पहले बता चुका हूं। आप यहां सहूलियतों या वेतन के मोह से नहीं आए हैं। अगर आपको अपने ध्येय में सफलता पानी है तो आप याद रखें कि आप यहां सिर्फ कारीगरी सीखने नहीं आए हैं। कारीगरी तो सीखना है ही, लेकिन उतने से संतोष न मान लें। देहात में कारीगर तो पड़े हैं। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी यही काम करते आए हैं। उनका मुकाबला

आप कैसे कर सकते हैं? क्रिया तो आप सीखें परंतु उसके साथ-साथ शास्त्रीय ज्ञान होना चाहिए। बार-बार यह प्रश्न उठना चाहिए कि हम यह क्यों कर रहे हैं, किस तरह करें, इसका संबंध स्वराज्य से कैसे जोड़ा जाए। स्वराज्य अहिंसा से पाना है। हिंदुस्तान के देहात में करोड़ों पड़े हैं, उन्हें डबारना है, उनकी सेवा करनी है, उन्हें इसकी कीमत बतानी है। अगर आप ऐसा समझते हैं कि मिल वाले लोगों को पेट-भर दे सकते हैं और उससे आपको संतोष होता है तो आपको यहां नहीं पढ़ना चाहिए। लेकिन मिल वाले तो मुट्ठी-भर को ही दे सकते हैं। करोड़ों का ख्याल मिल वाला करता ही नहीं। मुझे कोई मिल वाला अभी तक नहीं मिला है, जिसने कहा हो कि मिल के जरिए हम करोड़ों को काम दे सकते हैं।

आप कितना महाभारत काम करने आए हैं! आपको करोड़ों की सेवा करनी है। आप लोग 61 हैं, यह महत्त्व का प्रश्न नहीं है। यदि आप शास्त्रज्ञ होकर गए तो काम हो गया। आपको 61 करोड़ों के संरक्षक या ट्रस्टी बनना है। यह सिलसिला चल पड़ा तो आपकी संख्या बढ़ती ही जाएगी। यह विद्यालय गंगोत्री-जैसा है बाद में गंगा के समान उसका प्रवाह विस्तृत होता चला जाएगा। यह मेरा स्वप्न है। पचीस वर्षों से मैं इसे देख रहा हूं। जो आशा रखता हूं वह नहीं फली, परंतु फिर भी मैं निराश नहीं हूं, क्योंकि मैं कभी निराश होता ही नहीं। बड़ा काम जल्दी नहीं चलता। अहिंसा धीरे-धीरे चलती है लेकिन अचूक चलती है। उसका रास्ता सीधा है। विमान-वेग से चलने वालों को भी वह पीछे डाल देगी। मेरा यह दृढ़ विश्वास है।

जो ज्ञान आप यहां से प्राप्त करके जाएंगे, उसे देहातियों को देना है। उनमें उसके लिए रस पैदा करना है। लेकिन यह काम आसान नहीं। मैं सेवाग्राम में वर्षों से पड़ा हूं। यहां चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गोसेवा संघ आदि के दफ्तर हैं। यहां अच्छे कार्यकर्ता पड़े हैं। सहूलियतें भी जो और जगह नहीं हैं, वे यहां हैं। फिर भी मैं जो करना चाहता था वह नहीं कर सका। इससे आपको निराश नहीं होना चाहिए। लेकिन आपके मन में यह प्रश्न उठना चाहिए कि हम यह क्यों नहीं कर सके। शिक्षकों के पास इसका उत्तर होना चाहिए। यहां जो लोग बैठे हैं वे दगा-फरेब के लिए नहीं। कभी-न-कभी इसकी कुंजी हाथ में आएगी, इस दृढ़ विश्वास से वे यहां बैठे हैं। सेवाग्राम का गुणा करना है। एक गांव का विचार नहीं करना है। हिंदुस्तान का, मैं तो सारे संसार का विचार भी कर लेता हूं। अगर एक सिर्फ सेवाग्राम को ही देखना होता या अहिंसा और सत्य का ख्याल छोड़कर हमें करना होता तो इसे हम कर दिखाते, लेकिन इससे संसार की पीड़ा नहीं टलती। संसार में हिंदुस्तान एक बिंदु है। सेवाग्राम उस बिंदु का भी बिंदु है।

सेवाग्राम में जो हो सकता है वह सारे संसार में भी हो सकता है। इसके लिए 100 वर्ष भी मैं व्यतीत कर सकता हूं।

जो मेरे पास है वह यदि आप संतोष से सीखना चाहें तो मैं सिखा दूंगा, लेकिन वह पैसे कमाने का नहीं। ऐसे तो मैं हजार-दो हजार रुपए कमा सकता हूं। आजकल तो महात्मा भी हूं। इससे मुझे दो हजार कोई भी दे देगा। लेकिन मैं यह नहीं चाहता। और इससे ही मैं करोड़ों इकट्ठा कर सकता हूं लेकिन घर में रखने के लिए नहीं। मेरे लिए मुझे रोटी से अधिक कुछ नहीं चाहिए। इसी तरह आपको भी सूखी रोटी से संतोष होना चाहिए। यहां का काम आसान नहीं है। अगर आपको इसमें संतोष न हो तो यहां से आपको जाना चाहिए। दूसरी तरफ आपको काफी पैसा मिल सकता है। लेकिन यहां रहना है तो संतोष से रहना चाहिए। यदि आप यह भावना रखेंगे कि मैं करोड़ों के साथ एक होता हूं तो तेजस्वी बनेंगे।

मैं सेवाग्राम में वर्षों से पड़ा हूं। यहां चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गोसेवा संघ आदि के दफ्तर हैं। यहां अच्छे कार्यकर्ता पड़े हैं। सहूलियतें भी जो और जगह नहीं हैं, वे यहां हैं। फिर भी मैं जो करना चाहता था वह नहीं कर सका। इससे आपको निराश नहीं होना चाहिए।

आप लोग यहां भिन्न-भिन्न प्रांतों से आए हैं। एक भोजनालय में भोजन करते हैं– एक साथ रहते हैं। आपका दिल साफ हो जाना चाहिए। हम सब एक हैं। मैं तो अब कहने लगा हूं कि हम सब हरिजन हैं– हरिजन क्या, भंगी हैं। ऐसा आपका मन हो जाएगा तभी काम चलेगा। आपको प्रतिक्षण जाग्रत रहकर काम करना होगा। आपकी परीक्षा होगी, प्रमाण पत्र भी मिलेगा। लेकिन उससे आपकी कीमत नहीं होगी। प्रमाणपत्र दूसरों को दिखलाने के नहीं है। उससे आपको सिर्फ यह मालूम होगा कि आप कहां तक आ गए हैं। उससे आगे बढ़ना है। आप जो काम करेंगे उससे आपकी योग्यता का पता लगेगा, प्रमाणपत्र दिखाने से नहीं। और जगह प्रमाणपत्रों की कदर है, पर हमें मूल्य बदलना है, जीवन की दृष्टि बदलनी है, वस्तुओं को देखने का तरीका बदलना है।

सेवाग्राम में 22 नवंबर,
सन् 1945 को समग्र ग्राम सेवा विद्यालय में दिया गया भाषण।

*

ह्यूमः हमें प्यार करते रहे

श्रीराम मेहरोत्रा

मैं एक किस्सा सुनाने जा रहा हूं आपको। इसी शिमला शहर में बहुत साल पहले– आज से करीब 125 साल पहले– रहने वाले एक महान और विलक्षण व्यक्ति का। यह आदमी हमारी कौम का न था। हमारी तरह दास न था। वह तो अंग्रेज था, शासक वर्ग का था। लेकिन फिर भी उसने हमें दासता की बेड़ियों से मुक्त कराने के लिए सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की थी। इतिहास में पहली बार एक शासक वर्ग के व्यक्ति ने इंडियन सिविल सर्विस से सेवानिवृत्त हो, अपने कुशल नेतृत्व से रास्ता दिखाया फिर से स्वतंत्र होने का।

उनका नाम था ऐलेन ऑक्टेवियन ह्यूम। वे शिमला के जाखू में रहते थे, रौथने कॉसल में, जिसे अब शीशेवाली कोठी भी कहते हैं।

ह्यूम का निधन 31 जुलाई 1912 को लंदन में हुआ था। यह साल उनकी मृत्यु की शताब्दी का है। जन्म 1829 में। माता-पिता दोनों स्कॉटिश। जिसे हम यूनाइटेड किंग्डम कहते हैं, उसमें मुख्य चार कौमें हैंः इंग्लिश, वेल्श, स्कॉटिश और आइरिश। प्रत्येक के अपने-अपने गुण और दोष हैं। कहा जाता था कि भारत पर आइरिश सैनिकों ने विजय पाई थी, शासन किया इंग्लिश ने, स्कॉट लोगों के लाभ के लिए।

पिता का नाम जोजेफ ह्यूम। उन्होंने भी भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी की थी। सन् 1797 से 1807 तक डॉक्टर की हैसियत से। मगर पैसा कमाया ठेकेदार और दुभाषिए के रूप में। फिर स्वदेश लौट गए कोई 40,000 पौंड कमाकर। सन् 1812 में पार्लियामेंट की एक सीट खरीदकर एम.पी. हो गए। जी हां, उस समय इंग्लैंड में पार्लियामेंट की सीट खरीदी जा सकती थी। सन् 1855 तक वे संसद सदस्य रहे और रेडिकल पार्टी के नेता भी। ह्यूम ने अपना रैडिक्लिज्म अपने पिता से पाया।

ऐलेन ह्यूम की शिक्षा मुख्य रूप से लंदन में हुई। अन्य विषयों के अलावा उन्होंने डाक्टरी भी पढ़ी। फिर हेलीबरी में दाखिल हो गए। यह संस्था ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए मुलाजिम तैयार करती थी। सन् 1849 में बंगाल सिविल सर्विस में नियुक्ति के साथ 20 वर्ष की उम्र में भारत आ पहुंचे।

सन् 1856 में मेरे जिले, इटावा, उत्तर प्रदेश में कलेक्टर और जिला मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए और सन् 1867 तक वहां रहे। कुशल, लोकप्रिय, सुधारवादी शासक के रूप में ख्याति पाई।

पिता का नाम जोजेफ ह्यूम। उन्होंने भी भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी की थी। सन् 1797 से 1807 तक डॉक्टर की हैसियत से। मगर पैसा कमाया ठेकेदार और दुभाषिए के रूप में। फिर स्वदेश लौट गए कोई 40,000 पौंड कमाकर। सन् 1812 में पार्लियामेंट की एक सीट खरीदकर एम.पी. हो गए। जी हां, उस समय इंग्लैंड में पार्लियामेंट की सीट खरीदी जा सकती थी।

1857 में गदर हो गया। लगभग पूरे उत्तर भारत में अंग्रेजी शासन लुप्त हो गया था। आप विश्वास नहीं करेंगे कि एक भी अंग्रेज अफसर उत्तर भारत के किसी जिले में नहीं बचा था। सब भाग गए– छुप गए लखनऊ की रेजिडेंसी में या आगरा के किले में। एक भी अंग्रेज अफसर नहीं रहा, सारे उत्तर भारत में अपने मुकाम पर। शक्तिशाली साम्राज्य सिकुड़ गया। आग में फेंके एक कागज के खर्रे की तरह।

ह्यूम इस तथ्य को कभी नहीं भूले। ऐसा फिर कभी न हो। उन्होंने संकल्प लिया।

ह्यूम को भी इटावा छोड़कर आगरे के लाल किले में शरण लेनी पड़ी थी। इस पलायन में उनके भारतीय सहयोगियों ने उनकी मदद की और उनकी जान बचाई। यह पाठ भी वे कभी नहीं भूले। ह्यूम न बचते अगर उनके हिंदुस्तानी साथियों ने उन्हें चमरौधा जूता न पहनाया होता, पगड़ी न बांधी होती सिर पर और वेश बदलकर अपने साथ लेकर न पहुंचाया होता सुरक्षित स्थान पर।

सन् 1858 के प्रारंभ में इटावा लौटकर ह्यूम ने फिर से जिले में अंग्रेजी हुकूमत कायम की।

मेरे जन्म स्थान अनंतराम गांव के पास की लड़ाई में उन्होंने विद्रोहियों को करारी मात दी। यह लड़ाई जानी जाती है 'बैटल ऑफ अनंतराम' के नाम से। 7 फरवरी, 1858 को 125 को मार गिराया और 8 को फांसी पर चढ़ाया। एक भी गिरफ्तारी नहीं। बस मौत। क्या विधि की विडंबनाः यही आदमी फिर 27 साल बाद कांग्रेस का जन्मदाता हुआ।

ह्यूम ने सन् 1857 के लिए जनता को नहीं, शासकों को दोषी ठहराया, जिन्होंने सत्ता के मद में जनता की भावनाओं का तिरस्कार किया था। ह्यूम का मानना था कि लाखों, करोड़ों भारतीयों के ऊपर मुट्ठी भर विदेशी लोगों का शासन कभी स्थायी नहीं हो सकता। फिर यह विदेशी भारत में बसते भी नहीं हैं। उनका कहना था, "इसलिए हमें भारतीयों को अपनी हुकूमत के लिए तैयार कर लौटना चाहिए। नहीं तो गदर की ऐसी वारदातें होंगी और हमारी सभ्यता, संस्कृति, व्यापार, उद्योग सब नष्ट हो जाएंगे।" ह्यूम जानते थे कि ताकत से यह शासन ज्यादा देर टिक नहीं सकेगा। लेकिन भारतीयों को शिक्षा देकर खुद हुकूमत के लिए तैयार करके यह अंतराल थोड़ा लंबा हो सकता है।

ह्यूम को भी इटावा छोड़कर आगरे के लाल किले में शरण लेनी पड़ी थी। इस पलायन में उनके भारतीय सहयोगियों ने उनकी मदद की और उनकी जान बचाई। यह पाठ भी वे कभी नहीं भूले। ह्यूम न बचते अगर उनके हिंदुस्तानी साथियों ने उन्हें चमरौधा जूता न पहनाया होता, पगड़ी न बांधी होती सिर पर और वेश बदलकर अपने साथ लेकर न पहुंचाया होता सुरक्षित स्थान पर।

ह्यूम ने जिले में किसानों की गरीबी देखी थी। उन्होंने अपने से ऊंचे अंग्रेज अफसरों को बताया था कि एक किसान की औसत आमदनी मात्र 10 रुपए साल है और यह गरीबी, भुखमरी बढ़ रही है। प्रत्येक इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि इसका परिणाम क्या होगा।

इटावा छोड़ने के बाद ह्यूम कुछ दिनों बरेली में न्यायाधीश और फिर उत्तर भारत के कमिश्नर ऑफ कस्टम्स रहे। इससे उन्हें देश के दूसरे भागों को जानने का मौका मिला।

सन् 1869 में मेयो भारत के वायसराय हुए। वे एक जानकार और संवेदनशील शासक थे। कृषि की उन्नति के लिए उन्होंने सन् 1871 में कृषि विभाग कायम किया। ह्यूम उन गिने-चुने अंग्रेज अफसरों में से थे, जिन्हें विज्ञान और कृषि दोनों की ठीक जानकारी थी। उनको इस विभाग का सचिव बनाया गया। मेयो की सन् 1872 में अंडमान में हत्या हो गई, एक वहाबी मुसलमान कैदी के हाथों। एक ही वायसराय, जिसकी हत्या हुई यहां हिन्दुस्तान में।

ह्यूम की कृषि उन्नति की तमाम योजनाएं सरकार की उदासीनता और अंग्रेज उद्योगपतियों के विरोध के कारण असफल हुईं। ह्यूम ने बार-बार ध्यान दिलाया बढ़ती हुई गरीबी और असंतोष की ओर। उन्होंने एक वायसराय नार्थब्रुक से तो यह भी कह दिया था कि जिस बग्घी पर आप बैठे हैं उसके पहिए के नीचे यदि

एक भी रोड़ा आ गया तो आपकी बग्घी उलट जाएगी। वायसराय लिटन ने अंग्रेज सूती कपड़ा बनाने वाले उद्योगपतियों के दबाव में आकर मुक्त व्यापार के नाम पर सूती कपड़े के आयात पर शुल्क को हटा दिया था, जिससे देश के सूती कपड़े के व्यापार को बड़ा आघात पहुंचा था। ह्यूम को सचिव के पद से हटाकर सन् 1879 में इलाहाबाद भेज दिया राजस्व बोर्ड के सदस्य के रूप में। ह्यूम अपमानित हुए। सन् 1882 में उन्होंने समय से पहले सेवानिवृत्ति ले ली और शिमला आकर अपने पुराने मकान रौथने कॉसल में रहने लगे।

ह्यूम ने जिले में किसानों की गरीबी देखी थी। उन्होंने अपने से ऊंचे अंग्रेज अफसरों को बताया था कि एक किसान की औसत आमदनी मात्र 10 रुपए साल है और यह गरीबी, भुखमरी बढ़ रही है। प्रत्येक इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि इसका परिणाम क्या होगा।

क्षमा कीजिएगा थोड़ी-सी देरी हो गई ह्यूम को शिमला लाने में। मेरी समझ से तो मैं बड़ी तेजी से आपको यहां ले आया हूं!

ह्यूम सेवानिवृत्त होने पर इंग्लैंड वापस क्यों नहीं गए? शिमला में आकर क्यों बस गए? कई कारण थे। पहले तो अपमानित हुए थे। पदावनति हुई थी। सोच रहे थे उपराज्यपाल होंगे पंजाब के या वायसराय की काउंसिल के सदस्य। परंतु चौबेजी छब्बे होने के बजाय दुबे हो गए। दूसरे उनकी पत्नी को तपेदिक की बीमारी थी। शिमला की जलवायु उनके लिए मुफीद थी।

तीसरे– और यह सबसे महत्वपूर्ण है– सन् 1880 में इस देश में एक बहुत बड़ी क्रांति हुई। लिटन ने अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया और वहां उन्हें मुंह की खानी पड़ी। अफगानिस्तान में घुसना आसान है पर बाहर निकलना मुश्किल है। आज यह बात इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है। उसी समय सन् 1880 के चुनाव में इंग्लैंड में टोरी पार्टी बुरी तरह हारी। ग्लैडस्टोन की लिबरल पार्टी विजयी हुई। लिटन ने पद त्याग किया। रिपन वासराय हुए। ऐसा होता नहीं था कि वहां सरकार बदले और यहां वायसराय त्यागपत्र दे दें। लिटन ने ऐसा किया। उन्हें करना पड़ा, क्योंकि वे टोरी पार्टी के साथ बहुत नजदीक से पहचाने जा रहे थे।

भारतीय इतिहास में संभवतः सबसे खराब और विलासी वायसराय लिटन ही थे। परंतु उनके उत्तराधिकारी एक महात्मा हुए जिनका नाम रिपन था। भारतीय इतिहास में सबसे भला, ईमानदार, प्रगतिशील शासक। और यह परिवर्तन हुआ जून 1880 में शिमला में। जैसा मैंने कहा इंग्लैंड में सरकार बदलने पर वायसराय नहीं बदलते थे और जब वायसराय बदलते थे तब नए वायसराय कलकत्ता आकर पद ग्रहण करते थे। भारतीय इतिहास में पहली बार किसी

वायसराय ने शिमला में आकर पद ग्रहण किया। जून की गर्मी में नए वायसराय हिंदुस्तान नहीं आते थे। रिपन भारत आए जून की गर्मी में। बंबई पहुंचे और वहां से दिल्ली और फिर अंबाला होकर शिमला।

ह्यूम का मकान रौथने कॉसल कोई साधारण मकान न था। उन्हें दो चीजों का शौक था। वनस्पति-विज्ञान और पक्षियों का। उनका मकान मानो एक संग्रहालय। तमाम जमीन थी मकान के साथ। तरह-तरह के पेड़ पौधों से हर समय हरा-भरा। हमेशा फूलों से भरा मानो कोई स्थाई प्रदर्शनी लगी हो। शिमला में उस समय का सबसे सुंदर बगीचा। और फिर था ह्यूम का पक्षियों और अंडों का विशाल संग्रह, संभवत दुनिया में सबसे बड़ा निजी संग्रह। ग्लास हाउस, शीशे की अनेक छोटी-बड़ी अलमारियों में संकलित– इसीलिए इस मकान को शीशेवाली कोठी भी कहा जाता था।

इसके पहले कि मैं ह्यूम का प्रवेश भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में कराऊं, मैं उनके द्वारा शिमला में किए गए दो महत्वपूर्ण कामों का जिक्र करना चाहूंगा। पहला है रिपन अस्पताल और दूसरा है टाऊन हॉल।

1882 में लॉर्ड रिपन अपनी नेक, उदार भारत-हितैषी नीतियों और उद्‌गारों के कारण भारतीय जनता के आदर और स्नेह का पात्र बन चुके थे। वे बहुत बीमार हो गए। परमात्मा ने उन्हें बचा लिया। ह्यूम ने परमात्मा को धन्यवाद स्वरूप शिमला में– जहां भारतीयों के लिए कोई अच्छा अस्पताल न था– रिपन के नाम से एक अच्छा अस्पताल बनवाने का बीड़ा उठाया। राजा-महाराजा, गरीब-अमीर, नौकरी पेशा-व्यापारी सभी से धन इकट्‌ठा किया। 20 अक्तूबर 1882 को शिलान्यास हुआ। हेनरी अरविन ने डिजाइन बनाई। तीन साल बाद 4 मई 1885 को डफरिन ने उसका उद्‌घाटन किया। आज इस अस्पताल का नाम बदलकर इसे दीनदयाल उपाध्याय के नाम से पुकारना घोर पाप है। अज्ञान की चरमसीमा है– अपमान है ह्यूम और महात्मा रिपन का। मैंने उस समय भी विरोध किया था और आज भी उसकी भर्त्सना करता हूं।

जहां आज शिमला म्युनिसिपल कॉरपोरेशन है– रिज और माल के बीच– वह इमारत तो 1908 में बनी। इसके पहले शिमला म्युनिसिपैल्टी और टाउन हॉल उस कॉम्प्लैक्स के हिस्से थे जिसे आप ए.डी.सी. और गेयटी थियेटर कहते हैं।

शिमला में एक म्युनिसिपल कमेटी 1850 से काम कर रही थी। जब 1864 में शिमला देश की ग्रीष्मकालीन राजधानी हो गई, तब यह म्युनिसिपल कमेटी एक सरकारी दफ्तर-सी हो गई। 1881 में ह्यूम ने इसकी निरंकुश प्रवृत्तियों के खिलाफ आवाज उठाई। समय ने उनका साथ दिया। 1882 में रिपन की लोकल सैल्फ गवर्नमैंट की योजना आई। शिमला म्युनिसिपैल्टी भी निर्वाचित हो गई। ह्यूम

ने चुनाव लड़ा। विजयी हुए और म्युनिसिपैल्टी के वाइस चेयरमैन बने। नई निर्वाचित कमेटी ने एक टाउन हॉल की योजना बनाई। गेयटी थियेटर के पश्चिमी ओर सटी हुई इमारत। डेढ़ लाख खर्च होना था, हेनरी अरविन, जिन्होंने वाईसरीगल लॉज का नक्शा बनाया कुछ समय बाद– उन्होंने ही डिजाइन बनाई। टाउन हॉल की इमारत 1887 तक तैयार नहीं हुई। तब तक ह्यूम और दूसरे महत्वपूर्ण कामों में लग गए।

ह्यूम ने बार-बार ध्यान दिलाया बढ़ती हुई गरीबी और असंतोष की ओर। उन्होंने एक वायसराय नार्थब्रुक से तो यह भी कह दिया था कि जिस बग्घी पर आप बैठे हैं उसके पहिए के नीचे यदि एक भी रोड़ा आ गया तो आपकी बग्घी उलट जाएगी।

रिपन से भले वायसराय इस देश में कभी नहीं आए। वे भारत यह तय करके ही आए कि भारतीयों को स्वशासन, स्वराज्य के लिए आगे बढ़ाना है। कहां शुरु करें? रिपन चाहते थे कि ऊपर से शुरु करें। केंद्र और प्रांतों में विधान सभाएं हैं, इनमें और अधिक भारतीय हों और इन विधान सभाओं को और अधिकार हों। उन्होंने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट से यह कहा। लेकिन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने अस्वीकार कर दिया। रिपन ने सोचा चलो नीचे से शुरू करते हैं: जिले और नगरों का– डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसिपल बोर्डों का प्रबंध जनता के चुने हुए प्रतिनिधि करें। सरकारी अफसरों का हस्तक्षेप कम हो।

ह्यूम जाखू में रहते थे। रिपन पीटरहॉफ में। लेकिन देर-सबेर इन दोनों का संपर्क हो गया। दोनों उदारचेता, भारत हितैषी। रिपन को शीघ्र ही यह अहसास हो गया कि एक तो ह्यूम जितना भारत के बारे में, संपूर्ण भारत के बारे में, न केवल किसी छोटे से भाग के बारे में जानते हैं, उतना संभवतः कोई और अंग्रेज नहीं जानता। दूसरा यह कि ह्यूम के भारतीयों के साथ जितने सौहार्दपूर्ण संबंध हैं, वैसे संभवतः किसी और अंग्रेज के नहीं। वायसराय का भारतीय जनता से कोई सीधा संबंध न था। ह्यूम शीघ्र ही माध्यम बन गए रिपन और भारतीय जनता के साथ संपर्क का। ह्यूम एक तरह से रिपन के प्रवक्ता हो गए– वायसराय और भारतीय जनता के बीच में संपर्क का माध्यम।

अगले साल यानी सन् 1883 में एक दुर्घटना हो गई। वैसे तो बात बहुत छोटी, मामूली सी थी पर वह बड़ी बन गई। इंडियन सिविल सर्विस में अब 10-12 भारतीय भी अपनी योग्यता से विलायत में जाकर इम्तहान पास कर अच्छे अंकों से पहुंच गए थे। ये भारतीय आई.सी.एस. अफसर जब राजधानी में नियुक्त होते थे– कलकत्ता, लाहौर, मद्रास, बंबई तो वे वहां अंग्रेज अपराधियों का मुकदमा

सुन सकते थे। लेकिन मुफस्सल में बर्दवान, कोयंबटूर, अहमदनगर में नहीं। शिमला में सुनवाई कर सकते थे, लेकिन सोलन में नहीं। रिपन के कानूनी सलाहकार सी.पी.इलबर्ट ने इस तरफ रिपन का ध्यान आकर्षित किया। उदाहरण था बंगाल के आई.सी.एस. बी.एल. गुप्ता का– कलकत्ता में वे अंग्रेज अपराधी के खिलाफ मुकदमा सुन सकते थे, लेकिन ढाका में नहीं। असंगत बात थी। जब यह प्रस्ताव विधानसभा में आया तो अंग्रेजों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। यहां आपको यह बता दूं कि सरकारी अंग्रेजों के अलावा भारत में बहुतेरे गैर सरकारी अंग्रेज भी थे– व्यापारी, बगान मालिक आदि। भारत के हर बड़े शहर में उन्होंने सभाएं कीं, विरोध करने के लिए संगठित हुए। अपने प्रतिनिधि इंग्लैंड भेजे और वायसराय को गालियां देना शुरू कर दिया। इसे गोरों का विद्रोह कहा गया था तब। उन्होंने कानून के सामने बराबरी के सिद्धांत का विरोध किया। उन्होंने यहां तक स्कीम बना ली कि वायसराय को अपहृत कर जहाज में बंद कर वापिस इंग्लैंड भेज देंगे। भारतीयों ने वायसराय का समर्थन किया और अंग्रेजों ने विरोध।

भारत की जनता की ओर से वैसी बिदाई भारतीय इतिहास में किसी और वायसराय को नहीं दी गई। पूरा देश महात्मा रिपन की जय-जयकार से गूंज गया। हर रेलवे स्टेशन पर दर्शकों की भीड़। फूल मालाएं, तिलक, घंटे आरतियां, पारंपरिक ढंग से सम्मान। बंबई भूलेश्वर मंदिर के पुजारी ने मंदिर का दरवाजा खोल आरती की, तिलक लगाया रिपन को। न भूतो न भविष्यति। और इस सब के पीछे था ह्यूम का हाथ।

एक मुट्ठी भर गैर सरकारी अंग्रेजों ने भारतीय सरकार को नाकों चने चबवा दिए और अपनी बात मनवा लीः यदि भारतीय मजिस्ट्रेट किसी अंग्रेज अपराधी पर मुकदमा चला रहा है तो अंग्रेज अपराधी जूरी के द्वारा फैसले की मांग कर सकता है। इस जूरी में 50 प्रतिशत यूरोपीय होंगे। इंग्लैंड के साप्ताहिक पत्र पंच ने एक कार्टून निकालाः उसमें भारत हाथी था। रिपन-वायसराय महावत थे। हौदे में बहुत से गैर सरकारी अंग्रेज बैठे थे जो महावत को डरा धमका रहे थे।

हाथी (भारत) ने पाठ सीख लिया कि यदि भारतीयों को कुछ भी करवाना है तो संगठित होना पड़ेगा। यह नहीं कि एक सभा कलकत्ता में, दूसरी बंबई में, तीसरी मद्रास में। उन्हें एकजुट होकर काम करना होगा। इंग्लैंड के एक सर आर्थर उदारवादी, भारत हितैषी और रिपन के मित्र थे। उन्होंने रिपन को लिखा कि यदि भारतीय एकजुट नहीं होते तो इसी तरह पिटते रहेंगे। सम्मिलित,

संगठित आवाज सरकार तक पहुंचे। भारत बड़ा मुल्क था। तमाम धर्म, तमाम जातियां, तमाम हित और स्वार्थ, उस समय के हालात में यह संभव न था कि मात्र एक संस्था किसी एक केन्द्र से पूरे देश की आवाज हो सके।

लेकिन यह हो सकता था कि देश के विभिन्न प्रदेशों में काम कर रहे लोग और संस्थाएं– अपने-अपने स्थानीय प्रादेशिक हितों को साधने के अलावा साल में अपने प्रतिनिधि एक जगह भेजकर आपस में सलाह मशविरा करें और उन मामलों को उठाएं जिसमें भारत की पूरी जनता– हर प्रदेश के लोग– सहमत हों। जैसे विधान सभाओं का विस्तार और उदारीकरण, अधिक भारतीयों का प्रतिनिधित्व, ऊंचे पदों पर और अधिक भारतीयों की नियुक्ति, सरकारी खर्चे में कमी, आदि-आदि। ऐसे सामूहिक मसलों, समस्याओं, जरूरतों, सुधारों, मांगों पर साल में एक बार मिलकर विचार करें और उन्हें सरकार के सामने रखें।

हमें एक दूसरे के साथ जुड़ना चाहिए और कभी-कभी कम से कम साल में एक बार इकट्ठे होकर, सोच विचार कर, एक जुट होकर काम करना चाहिए। यह थी लिंकिंग-इन नामक योजना, जिसे ह्यूम ने सन् 1883-4 में शिमला में बनाया और फिर वायसराय रिपन के साथ विचार-विमर्श कर आगे बढ़ाने का निश्चय किया।

ऐसा नहीं था कि भारत में देशप्रेमी किसी एक राष्ट्रीय संस्था के बारे में कुछ सोच न रहे हों। सब अपने-अपने ढंग से सोच रहे थे। उदाहरण के लिए कलकत्ते की इंडियन एसोसिएशन। इसके कर्णधार सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और आनंद मोहन बोस थे। यह अपने को राष्ट्रीय संस्था के रूप में परिवर्तित करना चाहती थी। उसने 1883 के अंत में एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। लेकिन उसे भारत के क्या, बंगाल के क्या, कलकत्ते के लोग ही राष्ट्रीय संस्था मानने को तैयार न थे। कलकत्ते में दो और संस्थाएं थींः इंडियन लीग और ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन, जो उसकी प्रतिद्वन्द्वी थीं।

इस तरह कांग्रेस की कल्पना शिमला में दो व्यक्तियों ने की। ह्यूम और वायसराय रिपन ने। इस मूल कल्पना में जो 1884 में बनी थी, कोई भी भारतीय शामिल नहीं था। तय यह हुआ कि रिपन जिनका 5 साल का कार्यकाल सन् 1885 में समाप्त हो रहा था, वे एक साल पहले इस्तीफा देंगे। कोशिश होगी कि उनका उत्तराधिकारी वायसराय भी लिबरल हो। देश छोड़ने के पहले वे बंबईमें अपने उत्तराधिकारी से बात कर लेंगे। ह्यूम से कहा गया कि वे बंबई पहुंचें, दिसंबर के शुरु में। रिपन डफरिन से उनकी बात कर बता देंगे कि आगे बढ़ना है कि नहीं। यह सब तय हुआ शिमला में, सन् 1884 की शरद ऋतु में।

नवंबर के अंत और दिसंबर 1884 के प्रारंभ में जब रिपन भारत छोड़ने लगे

तब उन्हें जो बिदाई दी गई, भारत की जनता की ओर से वैसी बिदाई भारतीय इतिहास में किसी और वायसराय को नहीं दी गई। पूरा देश महात्मा रिपन की जय-जयकार से गूंज गया। हर रेलवे स्टेशन पर दर्शकों की भीड़। फूल मालाएं, तिलक, घंटे आरतियां। पारंपरिक ढंग से सम्मान। बंबई भूलेश्वर मंदिर के पुजारी ने मंदिर का दरवाजा खोल आरती की, तिलक लगाया रिपन को। न भूतो न भविष्यति। और इस सब के पीछे था ह्यूम का हाथ।

गोपनीय पत्र गुप्तचर विभाग को मिल गया। उसके सामने आने पर भारत और इंग्लैंड में अंग्रेजों ने इसे लेकर बहुत हो-हल्ला किया। ह्यूम पर देशद्रोह और उपद्रव के लिए भारतीय जनता को भड़काने का आरोप भी लगाया गया। कांग्रेस नेताओं पर दबाव डाला गया कि वे ह्यूम के गोपनीय पत्र में लिखी गई बातों का खंडन करें।

लॉर्ड डफरिन आए। रिपन से दो घंटे बात हुई। रिपन ने उनको ह्यूम और अपने बीच की बातचीत की जानकारी दी। डफरिन सहमत हो गए। रिपन ने ह्यूम से कह दिया 'आगे बढ़ो'। ह्यूम ने अपनी योजना की जानकारी केवल एक व्यक्ति को दी थीः शिवराम हरि चिपलूंकर को, जो तब पूना सार्वजनिक सभा के सचिव थे। अक्तूबर-नवंबर 1884 में। रिपन अभी भारत में ही थे। ह्यूम ने दो पत्र चिपलूंकर को लिखे अपनी लिकिंग इन योजना के बारे में। पहला पत्र संभवतः सी.आई.डी. ने दबा लिया था। सिर्फ एक पत्र 16 नवंबर सन् 1884 का मिलता है। इस विस्तृत पत्र में उन्होंने अपने देशव्यापी दौरे की योजना की रूपरेखा रखी थी।

ह्यूम नवंबर 1884 के अंत में बंबई पहुंच गए। रिपन को विदा किया। रिपन ने लार्ड डफरिन से बात कर ह्यूम से कह दिया था 'आगे बढ़ो'। ह्यूम तीन महीने पश्चिम भारत में रहे। सब तय किया कि कांग्रेस दिसंबर 1885 के अंत में पूना में होगी, कौन सभापति होगा, किन विषयों पर चर्चा होगी। फिर वे मद्रास, कलकत्ता और उत्तर भारत के तमाम शहरों में घूमते रहे, यह तय करने कि इस सम्मेलन में कौन-कौन आएगा। मई 1885 में शिमला लौटकर वायसराय डफरिन को पूरी योजना बताई। वायसराय ने कहा– ठीक। हमें भी पता चलता रहेगा कि शिक्षित भारतीय क्या चाहते हैं। केवल एक बात की सलाह दी कि बंबई के गवर्नर को सभापति न बनाया जाए। यदि तुमने वहां मद्रास के गवर्नर की आलोचना की तो बंबई के गवर्नर को परेशानी होगी। ह्यूम ने स्वीकार कर लिया। फिर ह्यूम इंग्लैंड गए, शरदऋतु में और वहां के प्रमुख राजनीतिज्ञों को भी अपनी योजना से अवगत कराया।

योजना के अनुसार कांग्रेस को पूना में मिलना था। लेकिन वहां हैजा फैल गया। कांग्रेस की बैठक को बंबई में करना पड़ा। पहली ऐतिहासिक कांग्रेस 28-29-30 दिसंबर सन् 1885 को बंबई में हुई। कुल 72 प्रतिनिधि थे। ह्यूम के अलावा सब भारतीय। उनमें से बहुतेरे एक दूसरे को जानते तक नहीं थे। लेकिन ह्यूम सब को जानते थे!

ह्यूम कभी कांग्रेस के मंच से नहीं बोले। वे कभी कांग्रेस के सभापति नहीं बने। लेकिन वे बहुत लंबे समय तक कांग्रेस के अकेले पूर्णकालिक कार्यकर्ता थे। अगले साल वे सचिव नियुक्त हुए और सन् 1906 तक इस पद पर रहे।

मार्च 1890 में ह्यूम कांग्रेस के काम से इंग्लैंड गए थे। उसी दौरान उनकी पत्नी की मृत्यु शिमला के रौथने कॉसल में हो गई। ह्यूम की अनुपस्थिति में उन्हें चीड़ और देवदार के वृक्षों की छाया में दफनाया गया। पत्नी की मृत्यु के बाद वे बिलकुल अकेले हो गए थे। अपना चिड़ियों और अंडों का संग्रह वे पहले ही ब्रिटिश संग्रहालय के नैचुरल हिस्ट्री खंड को दे चुके थे। सन् 1891 की कांग्रेस के बाद ह्यूम इंग्लैंड चले गए। सन् 1893 में वे लाहौर कांग्रेस के लिए आखिरी बार भारत आए थे। सन् 1894 की 18 मार्च को उन्होंने बंबई से भारत को सदा के लिए छोड़ा।

जब वे सुखद क्षण आएंगे, तब यदा-कदा मैं भी याद कर लिया जाऊंगा। मेरी इच्छा है कि भारत की दयालु संतानें मेरा मृत्योत्तर लेख न ताम्रपत्र पर लिखें और न शिला पर उत्कीर्ण करें। स्नेही हृदयों में अंकित रहे। इबारत होगीः "भारत के लिए वे अनवरत श्रमरत रहे, और यदि उनने कभी कोई गलती भी की तो भी वे हमें प्यार करते रहे।"

भारत से विदा होते हुए ह्यूम ने लिखाः 'थोड़े ही समय के बाद मैं आपको सदा के लिए छोड़ चुका होऊंगा। एक असफलता अनुभव करता हूं– जो विजय आपके लिए अर्जित करने की मैंने आशा की थी, उसका लेशमात्र भी मैं आपको न दे सका। मैं बीज का वपन मात्र करके रह गया जिसे भाग्य ने उसकी फसल न दिखाई। वृक्ष लगाने तक ही रह गया, जिसका फल मैं कभी भोग न सकूंगा। किंतु मैं निराश नहीं हूं। मैं निश्चित रूप से जानता हूं कि यह भूमि जिससे मैंने प्यार किया है, एक दिन विजय प्राप्त करेगी जिसके लिए मैंने आशा बांधी थी, एक दिन फसल कटेगी और एक दिन उन फलों को भोगेगी। जब वे सुखद क्षण आएंगे, तब यदा-कदा मैं भी याद कर लिया जाऊंगा। मेरी इच्छा है कि भारत की दयालु संतानें मेरा मृत्योत्तर लेख न ताम्रपत्र पर लिखें और न शिला पर उत्कीर्ण करें। स्नेही हृदयों में अंकित रहे। इबारत होगीः "भारत के लिए वे अनवरत श्रमरत

रहे, और यदि उनने कभी कोई गलती भी की तो भी वे हमें प्यार करते रहे।"

ह्यूम को लगता था कि भारत की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई गरीबी और भुखमरी यदि न रोकी गई तो देश में देर सबेर एक बड़ा हिंसक उपद्रव होगा। ह्यूम बड़े स्पष्टवादी थे और निर्भीक भी। उन्होंने 16 फरवरी 1892 को देश की प्रादेशिक कांग्रेस कमेटियों को लिखे गए अपने एक गोपनीय पत्र में यही बात लिखी थी। उन्होंने इन कमेटियों के सदस्यों और तमाम शिक्षित भारतीयों से आग्रह किया था कि स्वराज्य पाने के लिए- जो भारत की बढ़ती हुई गरीबी और भुखमरी को रोकने का एक मात्र उपाय है– कांग्रेस के आंदोलन की तन-मन-धन से सहायता करें। नहीं तो गरीब, भूखी जनता के हिंसक उपद्रव की आग में शिक्षित मध्यमवर्ग भी नष्ट हो जाएगा।

ह्यूम का भारत में कोई भी स्मारक नहीं है, यह बड़े खेद की बात है। शिमला के रौथने कॉसल में ह्यूम बहुत लंबे समय तक रहे और यहीं उन्होंने सन् 1884 में कांग्रेस की कल्पना की थी– क्या हम इस जगह को ह्यूम स्मृति मंदिर का स्वरूप नहीं दे सकते?

ह्यूम का 16 फरवरी सन् 1892 को लिखा गया यह गोपनीय पत्र गुप्तचर विभाग को मिल गया। उसके सामने आने पर भारत और इंग्लैंड में अंग्रेजों ने इसे लेकर बहुत हो-हल्ला किया। ह्यूम पर देशद्रोह और उपद्रव के लिए भारतीय जनता को भड़काने का आरोप भी लगाया गया। कांग्रेस नेताओं पर दबाव डाला गया कि वे ह्यूम के गोपनीय पत्र में लिखी गई बातों का खंडन करें।

उस समय कांग्रेस के अधिकांश नेता भले ही निजी तौर पर ह्यूम के विचारों से सहमत रहे हों, वे स्पष्ट रूप से ऐसे विचार व्यक्त करने में डरते थे। इसलिए उन्होंने ह्यूम के विचारों को अतिशयोक्ति पूर्ण और गलत बताया और अपने को उनसे अलग कर लिया। ह्यूम को इस बात से बहुत दुख हुआ।

कांग्रेस का जन्म सन् 1885 में हुआ था, जब इंग्लैंड में लिबरल पार्टी की सरकार थी। यह सोचा गया था कि बिना अधिक परिश्रम किए, कुछ दिनों में आंदोलन मात्र से ही कांग्रेस अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होगी। लेकिन दुभार्ग्यवश सन् 1886 में लिबरल पार्टी में आयरलैंड को स्वायत्तता देने के मामले पर फूट पड़ गई और वह सत्ता से हाथ धो बैठी। कांग्रेस को अपने प्रारंभिक जीवन के बीस सालों में अधिकांश समय इंग्लैंड में टोरी पार्टी की हुकूमत में बिताना पड़ा। यह बहुत निराशाजनक था। सन् 1886 में जब लिबरल पार्टी सत्ता से हट गई, तब भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन जो कभी ह्यूम के प्रयत्नों और कांग्रेस की मांगों से सहानुभूति दिखाते थे, वे भी दूसरा राग अलापने

लगे। सन् 1888 में भारत छोड़ने के पहले डफरिन ने खुलेआम ह्यूम की आलोचना की थी।

भारत में आंदोलन की विफलता देख ह्यूम और विलियम वैडरबर्न जैसे कांग्रेसी नेताओं ने सन् 1889 में इंग्लैंड में सक्रिय आंदोलन के लिए वहां एक ब्रिटिश कमेटी का गठन किया था। सोचा यह गया कि भारत का अंग्रेज शासक तो कुछ सुनेगा नहीं; इसलिए इंग्लैंड में आंदोलन तेज करो, क्योंकि भारत के असली शासक ब्रिटिश सरकार और पार्लियामेंट तो लंदन में हैं और इंग्लैंड का अंग्रेज भारत के अंग्रेजों से अधिक उदार है। सन् 1905 के अंत में फिर लिबरल पार्टी सत्ता में आई। ह्यूम फिर आशावादी हो सक्रिय हो गए भारत के हित में काम करने।

भारत के अलावा ह्यूम का इंग्लैंड में एक और व्यसन था और वह था वनस्पति विज्ञान। इंग्लैंड में टोरी शासन के लंबे अंधकार-युग में तो भारत को कुछ मिलना न था। संभवतः अपनी इसी निराशा को भुलाने के लिए ह्यूम दुगने उत्साह से अपने पुराने शौक में लग गए। सन् 1910 में उन्होंने 10,000 पौंड का अनुदान देकर साउथ लंदन बॉटनिकल इंस्टीच्यूट की स्थापना की। इसमें सुंदर बगीचा एक बड़ा पुस्तकालय और ह्यूम का विशाल वनस्पति संग्रह था। यह संस्था अभी भी जीवित और सक्रिय है और इस वर्ष लंदन में ह्यूम की पुण्यतिथि की शताब्दी जोर-शोर से मना रही है।

31 जुलाई 1912 को ह्यूम का देहांत हुआ 83 वर्ष की आयु में, उनके दक्षिण लंदन निवास स्थान पर। ह्यूम की लिखित हिदायतों के अनुसार उनका दाह संस्कार किया गया। और बाद में भस्म को एक साधारण समाधि में रख दिया गया।

ह्यूम का भारत में कोई भी स्मारक नहीं है। यह बड़े खेद की बात है। शिमला के रौथने कॉसल में ह्यूम बहुत लंबे समय तक रहे और यहीं उन्होंने सन् 1884 में कांग्रेस की कल्पना की थी– क्या हम इस जगह को ह्यूम स्मृति मंदिर का स्वरूप नहीं दे सकते?

यदि हम इस साल ऐसा कुछ कर सकें, तो हम कह सकेंगे कि हमने ह्यूम की शताब्दी यथोचित श्रद्धा और आदर के साथ मनाई है।

श्री मेहरोत्रा ने अपनी उच्च शिक्षा इलाहाबाद और लंदन के विश्वविद्यालयों में पाई। उन्होंने देश-विदेश के कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया है। उनकी विशेष रुचि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में रही है।

*

पुतले हम माटी के

सोपान जोशी

आज हम मंगल ग्रह के भूगोल के करीबी चित्र देखते हैं, चांद पर पानी खोजते हैं और जीवन की तलाश में वॉएजर यान को सौरमंडल के बाहर भेजने की कूवत रखते हैं। लेकिन हमारे शरीर पर और उसके भीतर रहने वाले अरबों जीव-जीवाणुओं के बारे में हम बहुत कम ही जानते हैं, जबकि इनसे हमारा लेन-देन हर रोज, हर पल होता रहता है। विज्ञान इस आदि-अनंत संबंध का एक सूक्ष्म हिस्सा अब समझने लगा है। इस संबंध का स्वभाव होड़, प्रतिस्पर्धा कम सहयोग ज्यादा है। इस नई खोज से हमारी एक नई परिभाषा भी उभरती है। 'मैं कौन हूं' जैसे शाश्वत और आध्यात्मिक प्रश्न का भी कुछ उत्तर मिल सकता है!

जीव शब्द से हम सब परिचित हैं। अणु से भी हम सब नहीं तो हममें से ज्यादातर परिचित हैं ही। पर जब ये दोनों शब्द जुड़ कर जीवाणु बनते हैं तो उनके बारे में हममें से मुट्ठी-भर लोग भी कुछ ज्यादा जानते नहीं।

इन सूक्ष्म जीवाणुओं को समझना हमारे लिए अभी भी टेढ़ी खीर है। कुछ यों कि सुई के छेद से एक मोटी-सी रस्सी निकालना। प्रकृति ने हमें जैसी आंख दी है, उससे मंगल ग्रह की लालिमा तो दिख जाती है पर उन करोड़ों जीवों का रंग नहीं दिखता जो हमारी अपनी चमड़ी पर रहते हैं। अगर फोड़ा हो जाए तो उसकी लाली देख हम सोचते हैं कि किसी रोगाणु से संक्रमण हो गया होगा। पर उन हजारों जीवाणुओं से हमारा परिचय भी नहीं होता जो घाव को जल्दी से भरने के लिए आ बैठते हैं और नए रोगाणु को उस जगह पर अपना घर बनाने से रोकते भी हैं।

बदले में उन्हें हमारी चमड़ी से खाना मिलता है, मृत कोशिकाओं का। ये जीवाणु हमारे चर्म पहरेदार ही नहीं, चर्म सफाई कर्मचारी भी हैं। लेकिन हम इन्हें जान नहीं पाते। अगर ये हमें सफाई और पहरेदारी का बिल भेजें तो शायद हमें इनकी असली कीमत पता लगे। या जब-तब ये हड़ताल कर दें। लेकिन जीवाणु तो अपना काम सतत करते रहते हैं, चाहे हम उन्हें जानें या न जानें। वे हमसे कभी कोई प्रशस्ति पत्र नहीं मांगते, कभी अपने अधिकारों के लिए क्रांति का उद्घोष नहीं करते, मंहगाई भत्ता भी नहीं मांगते। चाहे काम कितना भी कठिन हो वे सहज रूप से उसे करते रहते हैं। काम भी इतना कठिन करते हैं कि हम उसे करने के लिए बहुत मंहगे कारखाने भी बना लें तो भी उस किफायत से नहीं कर पाएंगे।

जीवाणु तो अपना काम सतत करते रहते हैं, चाहे हम उन्हें जानें या न जानें। वे हमसे कभी कोई प्रशस्ति पत्र नहीं मांगते, कभी अपने अधिकारों के लिए क्रांति का उद्घोष भी नहीं करते, मंहगाई भत्ता भी नहीं मांगते। चाहे काम कितना भी कठिन हो, वे सहज रूप से उसे करते रहते हैं।

प्रकृति का व्यापार सहज लेन-देन से, परस्पर सहयोग से चलता है। यह किसी कागज के अनुबंध पर दस्तखत करने से नहीं चलता। इसमें कोई वकील और कचहरी नहीं होती, कोई हुंडी या कर्जा नहीं होता। उसका कोई संविधान नहीं होता और किसी के भी अधिकार कानून में नहीं लिखे होते। इस दुनिया की सहज आपसदारी हमारे निर्णय-अनिर्णय, हमारी चेतना तक की मोहताज नहीं है।

हमारी समझ का दायरा कुछ छोटा है, इस सूक्ष्म दुनिया को समझने के लिए। और हमारी नजर है जरा मोटी। वर्ना क्या कारण है कि हम अपनी नाक पर बैठे जीवन के मूल को समझने के बजाए मंहगे से मंहगे अंतरिक्षयान बना धरती से दूर जीवन खोजते फिरते हैं? करें भी क्या? जो दिखता नहीं उस पर हमें सहज विश्वास नहीं होता। संत सूरदास को बिना दृष्टि के जो दिखा था वो तो उनके कवित्त से महसूस ही किया जा सकता है। उनकी श्रद्धा पर वैज्ञानिक शोध बेकार ही होगा।

सूरदासजी की आंखों में रौशनी चाहे न भी रही हो, संभावना ये है कि उनकी पलकों पर डेमोडेक्स माइट नाम का एक जीवाणु जरूर रहा होगा। वो इस पत्रिका के कई पाठकों की पलकों पर भी बैठा होगा। आठ पैर वाला ये सूक्ष्म प्राणी हमारी पलकों की जड़ के आसपास विचरता है। हमारी उमर बढ़ने के साथ डेमोडेक्स का साथ भी बढ़ता जाता है। रात को जब हम सो जाते हैं तब यह

हमारे चेहरे की चमड़ी पर टहलने निकलता है। लंबी दौड़ का यह कीड़ा एक घंटे में कई एक सेंटीमीटर की दूरी कर लेता है! कभी-कभी ये थोड़ा बहुत उत्पात भी करता है, तब पुतली पर सूजन या लाली आ जाती है। पर ज्यादातर इसकी उपस्थिति का हमें आभास नहीं होता।

हमारे शरीर के ऊपर और भीतर रहने वाले इन सचमुच अनगिनत प्राणियों में डेमोडेक्स का आकार काफी बड़ा है। फिर भी इनमें ज्यादातर तो माईक्रोस्कोप के नीचे भी मुश्किल से ही दिखते हैं। इनकी संख्या हमारे शरीर की अपनी कोशिकाओं से दस गुणा अधिक होती है। वैज्ञानिक अनुमान लगाते हैं कि हम में से हर एक का शरीर कोई 90 लाख करोड़, यानी 90,00,00,00,00,00,000 जीवाणुओं का घर है। यदि आपका वजन 90 किलोग्राम मान लें तो इसमें एक से तीन किलोग्राम वजन तो केवल आप के शरीर पर जीने वाले जीवाणुओं का होता है। पर ये बोझा कोई बोझा नहीं है। एकदम उठाने लायक है, क्योंकि इस एक किलो से ही बाकी 89 किलो का काम चलता है।

हमारे शरीर के ऊपर और भीतर रहने वाले इन सचमुच अनगिनत प्राणियों में डेमोडेक्स का आकार काफी बड़ा है। फिर भी इनमें ज्यादातर तो माईक्रोस्कोप के नीचे भी मुश्किल से ही दिखते हैं। इनकी संख्या हमारे शरीर की अपनी कोशिकाओं से दस गुणा अधिक होती है। वैज्ञानिक अनुमान लगाते हैं कि हम में से हर एक का शरीर कोई 90 लाख करोड़, यानी 90,00,00,00,00,00,000 जीवाणुओं का घर है।

अगर हमारे आपके शरीर में, हर शरीर में जीवाणु इतनी तादाद में हैं तो हमें भला इनकी मौजूदगी का आभास क्यों नहीं होता? सीधा कारण है। जो जीव माइक्रोस्कोप के नीचे भी मुश्किल से दिखें उनसे परिचय कैसे हो? उनका कोई जनसंपर्क विभाग भी तो नहीं होता जिसके प्रवक्ता टी.वी. पर आकर बयान दें।

ये थे तो हमारे साथ हजारों बरस से पर पहली बार इन्हें हमने माइक्रोस्कोप के द्वारा आज से 336 साल पहले देखा था। लेकिन इनकी कुछ कहने लायक जानकारी मिलनी तो हमें 150 साल पहले ही शुरू हुई। इन जीवाणुओं का पता चलने के बाद भी इनसे हमारा परिचय एकतरफा ही रहा। ज्यादातर शोध बीमारी फैलाने वाले रोगाणुओं पर ही हुई है। वह भी एंटीबायोटिक दवा बनाने वाली कंपनियों ने ही की है। क्योंकि जितनी जानकारी रोगाणु की हो उतना ही दवाएं बनाना आसान हो जाता है। जो जीवाणु कोई बीमारी नहीं फैलाते या कहें कि हमें बस फायदा ही कराते हैं, दवा बनाने वालों ने उनकी अवहेलना ही की है।

शोध करने वालों की दृष्टि में ऐसा कुछ होता है कि उन्हें अच्छाई सरलता से दिखती नहीं है। निरोग पर शोध करने से मुनाफा नहीं होता। मुनाफे के लिए बेहतर है रोग ढूंढ़ें और फिर उस रोग का उपचार खोजें। दवाएं बेचने वाले हमें हर तरह से जीवाणुओं का हौआ ही बताते हैं। बैक्टीरिया और वायरस के नाम ऐसे लिए जाते हैं कि जैसे वे कोई आतंकवादी संगठन हों। इससे स्वस्थ विचार फैले न फैले, घोर अज्ञान जरूर फैलता है।

जीवाणुओं का पता चलने के बाद भी इनसे हमारा परिचय एकतरफा ही रहा। ज्यादातर शोध बीमारी फैलाने वाले रोगाणुओं पर ही हुई है। वह भी एंटीबायोटिक दवा बनाने वाली कंपनियों ने ही की है। क्योंकि जितनी जानकारी रोगाणु की हो उतना ही दवाएं बनाना आसान हो जाता है। जो जीवाणु कोई बीमारी नहीं फैलाते या कहें कि हमें बस फायदा ही कराते हैं, दवा बनाने वालों ने उनकी अवहेलना ही की है।

विज्ञान और शोध की दुनिया में हमारे इन मित्र जीवाणुओं के प्रति प्रीति और रुचि हाल ही में बढ़ी है। वो भी इसलिए कि एंटीबायोटिक दवाओं का असर कम होने लगा है। रोगाणु इन्हें सहने की ताकत बना लेते हैं और मजबूत हो जाते हैं। फिर और नए और मंहगे एंटीबायोटिक पर शोध होता है। इस शोध के दौरान वैज्ञानिकों को समझ आया कि शरीर में कुछ और भी जीवाणु हैं और इनसे हमारा संबंध धरती पर जीवन के उद्‌गम के समय से है। यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये हमारे पुरखे ही हैं। धरती पर जीवन का सबसे व्यापक प्रकार सूक्ष्म जीवाणु ही हैं। चाहे वनस्पति हो या पशु– जीवाणुओं के बिना किसी का जीवन एक क्षण भी नहीं चले। मिट्टी में मौजूद जीवाणुओं के बिना पौधे जमीन से अपना खाना नहीं निकाल सकते। बिना जीवाणुओं के मरे हुए पौधे और पशु वापस खाद बन कर नए जीवन में नहीं पहुंच सकते। जीवन की लीला की सबसे पुरानी, सबसे बुनियादी इकाई जीवाणु ही हैं।

हमारे शरीर में इनका खास ठिकाना है हमारा पाचन तंत्र। यानि मुंह, पेट और हमारी आंत। यहां करोड़ों जीवाणु हमारे भोजन के एक सूक्ष्म हिस्से पर पलते हैं। इनके रहने से हमें तीन बड़े फायदे हैं:

एक, इनकी उपस्थिति भोजन को पचाने में बहुत अहम है। भोजन में मौजूद कई तरह के जटिल रसों को ये सरल बनाते हैं, इस रूप में लाते हैं कि हमारी आंत से यह रस खून में सोखा जा सके, जहां से वो हमारे शरीर के हर हिस्से में पहुंचता है। जैसे फसल को काट कर, साफ करके बोरों में बांधा जाए ताकि अनाज की जहां जरूरत हो वहां मिल जाए। काम ये बहुत मेहनत का

है, जैसे कच्ची सामग्री से भोजन तैयार करना। जैसे कोई रसोईया सब्जी से तरकारी, चावल से भात और गेहूं से रोटी बनाता है, वैसे ही ये करोड़ों जीवाणु हमारे खाने को सुपाच्य और सुगम बनाते हैं।

इसे करने के लिए कई तरह के रसायन चाहिए। हमारा शरीर इतने रसायन खुद नहीं बना सकता सो वह इन जीवाणुओं को अपने भीतर पालता है। जीवाणु ये काम विश्व स्वास्थ्य संगठन या स्वास्थ्य मंत्रालय के निर्देश पर नहीं करते हैं। उन्हें रोटी, कपड़ा और मकान मिलते हैं हमारी आंत में। हम सभी को यह अनुभव हो चुका है कि जब किसी रोगाणु को मारने के लिए हम एंटीबायोटिक दवाएं लेते हैं तो हमारा पाचन और स्वाद, दोनों बिगड़ जाता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि ये दवाएं रोगाणुओं को मारें या न मारें, हमारे मित्र जीवाणुओं को तो जरूर ही मार देती हैं। जब तक ये सूक्ष्म मित्र हमारे शरीर में लौट कर वापस न आएं, खाना पचाना तो कठिन होता ही है, मुंह में जाएका भी नहीं रहता। जिसे हम दवा मानते हैं, वह नए रोग का कारण भी बन जाती है।

विज्ञान तो अब हममें से हर किसी के शरीर को एक अलग ग्रह के रूप में देखता है, जिस पर कुछ करोड़ों प्राणी जीते हैं। कुछ वैसे ही जैसे धरती पर हम कई तरह के पेड़ पौधों और पशुओं के साथ जीते हैं। अंतरिक्ष में देखने पर जितना महत्व हमारे अस्तित्व का है, जीवाणुओं का हमारे शरीर पर महत्व उससे कहीं ज्यादा है। और अंतरिक्ष से देखते हुए किसी को पहचान लेना जितना कठिन है, उतना ही कठिन हमारे शरीर पर रहने वाले जीवाणुओं को पहचानना है।

यह नया शोध समझा रहा है कि हमारा मोटा होना या न होना हमारे पेट में रहने वाले जीवाणुओं पर निर्भर होता है। शायद आप ऐसे लोगों को जानते हों जो बहुत ज्यादा खाते हैं फिर भी दुबले ही बने रहते हैं। फिर ऐसे भी लोग मिलते हैं जिनका भोजन बहुत ज्यादा नहीं होता पर शरीर भारी होता है। मधुमेह रोग में भी जीवाणुओं के संतुलन बिगड़ने का हाथ देखा जाने लगा है। हमारे चित्त पर आनंद-अवसाद में, दुख-सुख में तो जीवाणुओं का हाथ होता ही है, हमारे निर्णय और विवेक पर भी उनका दखल रहता है। हमारे पेट में रहने वाला एक जीवाणु हैलिकोबैक्टर पाइलोरी के नाम से जाना जाता है। कभी-कभी इससे पेट के कुछ रोग हो जाते हैं, जो कैंसर जैसा खतरनाक रूप भी ले सकते हैं। एंटीबायोटिक दवाओं से इसे बहुत कम करने के बाद पता चला की इसकी मौजूदगी पेट के स्वास्थ्य के लिए जरूरी भी होती है,

क्योंकि ये पेट के तेजाब को काबू में रखता है और पेट के बारीक रसायनशास्त्र में अच्छा दखल भी देता है। एक तरह के रोग कम करने के फेर में हम किसी और तरह के रोग बढ़ाने में लगे हैं। दवाओं पर खर्चा बढ़ा, सो बात अलग!

विज्ञान तो अब हममें से हर किसी के शरीर को एक अलग ग्रह के रूप में देखता है, जिस पर कुछ करोड़ों प्राणी जीते हैं। कुछ वैसे ही जैसे धरती पर हम कई तरह के पेड़ पौधों और पशुओं के साथ जीते हैं। अंतरिक्ष से देखने पर जितना महत्व हमारे अस्तित्व का है, जीवाणुओं का हमारे शरीर पर महत्त्व उससे कहीं ज्यादा है। और अंतरिक्ष से देखते हुए किसी को पहचान लेना जितना कठिन है, उतना ही कठिन हमारे शरीर पर रहने वाले जीवाणुओं को पहचानना है। अलग-अलग इलाकों में रहने वाले लोगों के पेट में जीवाणु भी अलग-अलग तरह के होते हैं। इसका एक संबंध खान-पान से भी है। जिस तरह का भोजन एक जगह खाया जाता है, उसे पचाने वाले जीवाणु भी खास ही होते हैं।

मित्र जीवाणुओं से दूसरा फायदा हमें ये होता है कि ये रोगाणुओं को दबा कर रखते हैं। कुछ वैसे ही जैसे करोड़ों सैनिक हमारे शरीर की पहरेदारी कर रहे हों। क्यों करते हैं ये ऐसा? क्योंकि रोगाणु भी उसी भोजन का पीछा करते हैं जिस पर ये हमारे शांति सैनिक पलते हैं। अगर खाना रोगाणु को मिल गया तो ये क्या खाएंगे? और फिर अगर रोगाणु ने हमें बीमार कर दिया तो उस बीमारी का असर इन पर भी होता है। हमारे स्वास्थ्य में इनका स्वास्थ्य होता है।

इनसे हमारा संबंध करोड़ों साल और लाखों पीढ़ियों का है। हमारी दोस्ती जन्मजात है, चाहे हमें पता हो या नहीं। अपने दोस्त को नुकसान पहुंचाने वाले को ये आड़े हाथ लेते हैं। हर रोज, हर क्षण। सरल बात को कठिन बनाकर कहने से यदि ज्यादा असर पड़ता है तो कहा जा सकता है कि इनका घोष वाक्य हैः अर्हनिशंसेवामहे! इनकी रुचि हममें है, हमें दवा बेचने वाली कंपनियों में नहीं। तो मित्र जीवाणु पर शोध कम ही हुआ है। बाजारी चिकित्सा तो अभी सौ साल पुरानी भी नहीं है, पर मनुष्य को विज्ञान कोई दो लाख साल पुराना आंकता है। उसके पहले भी हमारे पूर्वज किसी न किसी रूप में रहे ही होंगे। शरीर में रोगप्रतिरोध के बिना उनका समृद्ध होना नामुमकिन था। अगर मनुष्य जाति बची है तो इसलिए कि जितने रोग फैलाने वाले कीटाणु रहे हैं, उससे कहीं ज्यादा मित्र जीवाणु रहे हैं, जिनकी समृद्धि हमारी समृद्धि पर ही टिकी हुई थी।

रोगाणु और मित्र जीवाणुओं का संबंध जानने के लिए एक बीमारी का किस्सा देखिए– इसे अंग्रेजी में कोलाइटिस कहते हैं और इसका एक बड़ा कारण क्लास्ट्रोडियम डिफ्फिसाइल नाम का बैक्टीरिया है। ये बैक्टीरिया जाने कब से मनुष्य की निचली आंत में घर करे बैठा है, लेकिन वहां रहने वाले मित्र जीवाणु इस ढीठ को काबू में रखते हैं, इसे उत्पात मचाने नहीं देते। इस रोगाणु ने एंटीबायोटिक दवाओं को सहन करना सीख लिया है। लेकिन इसे काबू में रखने वाले जीवाणु इन दवाओं से मारे जाते हैं। नतीजा ये होता है कि एंटीबायोटिक लेने के बाद इस रोगाणु का प्रकोप बढ़ जाता है। इसके ऐसे प्रकार भी बन गए हैं जिन पर अब हमारी किसी भी दवा का असर नहीं होता। हाल ही में इसका एक नया उपचार ढूंढ़ा गया है। किसी स्वस्थ व्यक्ति के मल का एक छोटा-सा हिस्सा रोगी की आंत तक पहुंचा दिया जाता है। बस, मित्र जीवाणुओं के पहुंचते ही इसका प्रकोप घट जाता है।

मां के दूध में ऐसे कई रसायन होते हैं जिन्हें शिशु का पेट किसी भी सूरत में पचा ही नहीं सकता। विज्ञान को पता नहीं था कि मां का शरीर अपनी इतनी ऊर्जा खर्च क्यों करता है ऐसे रस बनाने में, जिनका शिशु को कोई लाभ हो ही नहीं। इसका जवाब हाल ही में कुछ वैज्ञानिकों ने खोजा है।

जीवाणुओं से तीसरा फायदा मिलता है हमारे रोगप्रतिरोध तंत्र को। प्रकृति ने हमें सहज ही रोगों से लड़ने की जो शक्ति दी है, वह कभी कमजोर भी पड़ती है। तब उसको संबल मिलता है जीवाणुओं से। जैसे जीवाणुओं पर शोध कम ही हुआ है, वैसे मां के दूध पर भी शोध कम ही हुआ है। जो थोड़ा-बहुत शोध हुआ है वह शिशु आहार बनाने वाली कंपनियों ने ही किया है जो मां के दूध का पर्याय बन चुके पैकेट या डिब्बे में दूध का पाउडर बेचती हैं। ये तो सबको मालूम ही रहा है कि मां के दूध पर पले बच्चों की रोगप्रतिरोध की ताकत ज्यादा होती है, शरीर कहीं ज्यादा मजबूत होता है। पर यह क्यों होता है– यह रहस्य ही था।

मां के दूध में ऐसे कई रसायन होते हैं जिन्हें शिशु का पेट किसी भी सूरत में पचा ही नहीं सकता। विज्ञान को पता नहीं था कि मां का शरीर अपनी इतनी ऊर्जा खर्च क्यों करता है ऐसे रस बनाने में, जिनका शिशु को कोई लाभ हो ही नहीं। इसका जवाब हाल ही में कुछ वैज्ञानिकों ने खोजा है। उन्होंने पाया कि यह रस उन जीवाणुओं को पोसता है जो शिशु के पेट में रोगाणुओं से लड़ते हैं और शिशु के अपने रोगप्रतिरोध को सहारा देते हैं। तो मां का दूध इन रक्षकों को भी

पोसता है। मां का दूध मिलने से पहले ही शिशु को लाभ पहुंचाने वाले ये जीवाणु मां के शरीर से जन्म के समय से मिलने शुरु हो जाते हैं।

लेकिन इस विषय पर शोध करने से मां का कर्ज चुक नहीं जाता। उसके लिए तो हमें अपने आचरण में श्रद्धा लानी होगी। आजकल कुछ लोग अपने बूढ़े माता-पिता को भूल जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे एंटीबायोटिक दवाओं के नशे में शोध करने वाले हमें स्वस्थ रखने वाले जीवाणुओं को नजरअंदाज करते हैं।

धरती को भी हर संस्कृति ने मां का ही रूप माना है। हम शुचिता के नाम पर हर वह काम करने लगे हैं, जिससे मिट्टी का स्वभाव बिगड़े। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है सीवर और कृत्रिम खाद। प्रकृति का नियम है कि जो जीवन मिट्टी से पेड़ पौधों के रूप में उगता है वह प्राणियों के पेट से होता हुआ वापिस मिट्टी में मल-मूत्र के रूप में जाए। मिट्टी में ऐसे करोड़ों जीवाणु बैठे रहते हैं जो हमारे मल-मूत्र पर जीते हैं और उसे वापिस पौधों का खाना बना देते हैं। ये जीवन की सहज लीला है और हमारा जीवन इसी से चलता है। हजारों पीढ़ियों से मनुष्य का मल-मूत्र इस सुंदर लीला की एक कड़ी रहा है। मिट्टी की उर्वरता का यह एक स्रोत ही रहा है।

पर युरोप के शहरों में आज से 150 साल पहले वहां की घोर गंदगी कम करने के लिए बड़े-बड़े सीवर बने। पहले युरोप के शहरों में मल-मूत्र सड़कों पर बहता था। कुछ लोग तो ये मानते हैं की ऊंची एड़ी के जूतों का इस्तेमाल इस नर्क से बचने के लिए ही हुआ था, जो बाद में फैशन बन गया! युरोप की नदियों की हालत तब हमारी आज की गंगा-यमुना से बहुत बेहतर नहीं थी। सीवर बनाकर और अपने कुछ लोगों को अमेरिका जैसे दूसरे महाद्वीपों पर भेज कर युरोप के शहर साफ जरूर हुए हैं। लेकिन इसकी कीमत उनकी नदियां ने चुकाई है। दुनिया में अब तक ऐसा कोई सीवर तंत्र नहीं बना जो जल स्रोतों को दूषित न करे। आजकल शहर अपने जल स्रोत अपने मल-मूत्र से बिगाड़ देते हैं। फिर दूर-दूर से किसी और का पानी छीन कर चलते हैं।

अब यह बात सामने भी आने लगी है कि सीवर साफ करने के संयंत्र महाबली या बाहुबली रोगाणु (अंग्रेजी में 'सुपरबग') बनाने के कारखाने बनते जा रहे हैं। इन रोगाणुओं से होने वाले रोग लाइलाज हैं। हाल ही में ऐसा एक रोगाणु मिला है, जिसका नाम 'नई दिल्ली' रखा गया। फिर खूब विवाद हुआ।

दूसरी तरफ खाद की कमी से मिट्टी की उर्वरता घटी तो कृत्रिम खाद की बिक्री और इस्तेमाल बढ़ गया। इस खाद से मिट्टी का ठीक वही हाल हो

रहा है, जो हमारे शरीर में एंटीबायोटिक से हो रहा है। मित्र जीवाणु घट रहे है और रोगाणु दिन-ब-दिन और ज्यादा ताकतवर बनते जा रहे हैं। कृत्रिम खाद में कुल जितनी उर्वरता होती है, उसका एक छोटा अंश भर पौधे को मिलता है। क्योंकि उसे पचा कर पौधे के इस्तेमाल लायक बनाने के लिए जीवाणु उसमें होते नहीं। जीवाणुओं को रहने के लिए घर और खाने के लिए भोजन चाहिए। वह उन्हें जीवित चीजों के सड़ने-गलने से ही मिलता है। ठीक जैसे हमारे पेट के भीतर होता है।

आजकल हमारी सरकार देश को खुले में शौच जाने से मुक्त करने की भरसक कोशिश कर रही है। अगर हर किसी के पास सीवर का शौचालय होगा तो हमारे जल स्रोतों का क्या होगा– यह बात सरकार कतई नहीं सोचना चाहती। शायद इसलिए कि निर्मल भारत परियोजना हमारी शर्म से उपजी है, हमारे विवेक से नहीं। हमें खुले में शौच जाने की शर्म तो दिखती है लेकिन अपनी नदियों और तालाबों को सीवर बनाने में कोई शर्म नहीं लगती।

कृत्रिम खाद का बड़ा हिस्सा जल स्रोतों में बह जाता है, जहां वह हमारे मल-मूत्र के साथ मिलकर प्रदूषण करता है। सीवर को साफ करने के संयंत्र तो और बड़ा खतरा बन जाएंगे। यहां पर रोगाणुओं को कम मात्रा में वे सब एंटीबायोटिक मिलते हैं जो हमारी पेशाब के रास्ते वहां पहुंचते हैं। रोगाणुओं को इनसे प्रतिरोध बनाने का मौका जैसा यहां मिलता है वैसा और कहीं नहीं मिलता। अब यह बात सामने भी आने लगी है कि सीवर साफ करने के संयंत्र महाबली या बाहुबली रोगाणु (अंग्रेजी में 'सुपरबग') बनाने के कारखाने बनते जा रहो हैं। इन रोगाणुओं से होने वाले रोग लाइलाज हैं। हाल ही में ऐसा एक रोगाणु मिला है, जिसका नाम 'नई दिल्ली' रखा गया। फिर खूब विवाद हुआ। विवाद भी नाम पर ही हुआ, हमारे आचरण पर नहीं।

यूरोप की इसी सीवर मानसिकता को हमने विकास की पराकाष्ठा मान लिया है। आजकल हमारी सरकार देश को खुले में शौच जाने से मुक्त करने की भरसक कोशिश कर रही है। अगर हर किसी के पास सीवर का शौचालय होगा तो हमारे जल स्रोतों का क्या होगा– यह बात सरकार कतई नहीं सोचना चाहती। शायद इसलिए कि निर्मल भारत परियोजना हमारी शर्म से उपजी है, हमारे विवेक से नहीं। हमें खुले में शौच जाने की शर्म तो दिखती है लेकिन अपनी नदियों और तालाबों को सीवर बनाने में कोई शर्म नहीं लगती।

जिन शहरों में हमारी सरकारें बैठती हैं वे शहर दूर के गांवों का स्वच्छ पानी छीन लाते हैं। जो दिखता नहीं है, उसकी चिंता भी नहीं होती। लेकिन बेशर्मी तो हमारे शहरों में जो दिखता है उसकी भी होती है। खुले में शौच जाना शर्म का सबब बनता है। शहर भर का मैला नदी-तालाब में उंढ़ेल देने में हमें कोई शर्म नहीं आती।

इसमें भी शोध और श्रद्धा का फर्क दिखता है, मां के कर्ज के प्रति। गंगा को हमने अपनी मां माना है लेकिन शोध से ही उसके पानी के बारे में जो 100 साल पहले पता चला था, उससे हम मुंह फेरे बैठे हैं। गंगा का जल घर में बरसों तक रखे रखने से खराब क्यों नहीं होता– ये समझने की कोशिश सन् 1896 में एक अंग्रेज चिकित्सक अर्नेस्ट हॅनबरी हॅनकिन ने की थी। वे जानना चाहते थे कि गंगा जल में हैजे के रोगाणु तीन घंटे में ही खत्म कैसे हो जाते हैं। ये बात हमारे गांव के लोग ही नहीं, ईस्ट इंडिया कंपनी के कारिंदे भी जानते थे। इसलिए लंदन वापस जाते समय ये पानी के जहाज में गंगा का पानी ही रखते थे। श्री हॅनबरी के शोध से विज्ञान की एक नई विधा बनी। इससे ऐसे वायरस की खोज हुई जो बैक्टीरिया को खत्म करते हैं। विज्ञान इन्हें 'फैज' या 'बैक्टीरियोफैज' कहता है।

गंगा का जल घर में बरसों तक रखे रखने से खराब क्यों नहीं होता– ये समझने की कोशिश सन् 1896 में एक अंग्रेज चिकित्सक हॅनबरी हॅनकिन ने की थी। वे जानना चाहते थे कि गंगा जल में हैजे के रोगाणु तीन घंटे में ही खत्म कैसे हो जाते हैं। ये बात हमारे गांव के लोग ही नहीं, ईस्ट इंडिया कंपनी के कारिंदे भी जानते थे। इसलिए लंदन वापस जाते समय ये पानी के जहाज में गंगा का पानी ही रखते थे।

गंगा जल में 'फैज' की मात्रा बहुत अधिक पाई गई है। हमारे पूर्वजों ने चाहे शोध न किया हो, गंगा जल का ये कमाल तो देखा होगा। इसीलिए गंगा जल को मां के दूध की तरह देखा जाता है। क्या मालूम इसीलिए लोग गंगा जल लाकर अपने तालाब और कुंओं में डालते थे ताकि गंगा जल को साफ रखने वाले 'फैज' उनके तालाब और कुंओं में भी फैलें और इस पानी को भी निर्दोष बनाए रखें। पर जिस विज्ञान के शोध से गंगा के बारे में हमें ये जानकारी मिली है, उसी विज्ञान ने हमें गंगा में अपना सीवर बहाने को भी राजी कर लिया है। सरकारें तो इसी को विकास मानती है!

ये अजब शोध है जो पहले हमारी श्रद्धा को पाटता है और फिर हमें बताता है कि हमारी श्रद्धा का वैज्ञानिक कारण क्या है! जीवाणुओं के जो थोड़े बहुत गुण हमें पता चले हैं वे तब जब हमने अपने शरीर एंटीबायोटिक दवाओं के हवाले कर दिए हैं। विज्ञान की एक और विधा है जो कहती है कि जीवाणु और रोगाणु की इस लीला को मिटाने की कोशिश में हम नए तरह के रोगों में फंस रहे है। इन्हें एलर्जी कहा जाता है और इनका एक रूप दमा है, जो हमारे समाज में अब सब तरफ, सब उमर के लोगों में बढ़ रहा है। ऐसा माना जाता है कि मिट्टी में पलने-खेलने वाले बच्चों को दमा होने की आशंका कम ही होती है क्योंकि उनका शरीर उस मिट्टी के पास रहता है, जिससे हम बने हैं।

हमारे इस शरीर को बनाने में, बनाए रखने में करोड़ों जीवाणुओं की सेवा लगी है। लेकिन विज्ञान जो हमारा ये नया स्वरूप दिखा रहा है, वह इतना नया भी नहीं है। कई संस्कृतियों ने इस दर्शन को और भी सुंदर रूप में समझा है। वह भी हजारों बरस पहले। 'आदमी' शब्द बना है पुराने यहूदी शब्द 'अदामा' से, जिसका अर्थ है मिट्टी।

हमारे इस शरीर को बनाने में, बनाए रखने में करोड़ों जीवाणुओं की सेवा लगी है। लेकिन विज्ञान जो हमारा ये नया स्वरूप दिखा रहा है, वह इतना नया भी नहीं है। कई संस्कृतियों ने इस दर्शन को और भी सुंदर रूप में समझा है। वह भी हजारों बरस पहले। 'आदमी' शब्द बना है पुराने यहूदी शब्द 'अदामा' से, जिसका अर्थ है मिट्टी। अंग्रेजी का 'ह्यूमन' भी लैटिन के 'ह्यूमस' से बना है और इसका भी अर्थ मिट्टी। जिस मिट्टी से हम बने हैं, उसके प्रति केवल शोध का भाव रखना हमारा उथलापन ही होगा। उसमें थोड़ी सी खाद श्रद्धा की भी डालनी पड़ेगी, फिर से।

हम कभी न भूलें कि हम हैं माटी के ही पुतले।

इंडियन एक्सप्रेस, आउटलुक ट्रेवलर, तहलका
और डाउन टू अर्थ आदि समाचारपत्र-पत्रिकाओं में पत्रकार,
संपादक जैसी भूमिकाओं में काम कर चुके श्री सोपान जोशी अब
गांधी शांति प्रतिष्ठान में 'जल-थल-मल' विषय पर श्रद्धा से शोध कर रहे हैं।

*

एक अच्छी चीज का बेजा इस्तेमाल

संजय ए. पै

ये तो अचानक ही मिल गई थी। खोजबीन कुछ और ही चल रही थी कि हाथ लग गई एक्सरे। देख कुछ और ही रहे थे कि मिल गई एक अदृश्य किरण। और फिर इसने चिकित्सा जगत पर ऐसा प्रभाव डाला कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इतिहास बताता है कि सन् 1895 के 8 नवंबर को वुर्जबर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) में भौतिकी संस्थान के निदेशक विलहैम कॉनरॉड रोंगटेगन कैथोड नामक एक किरण पर कुछ प्रयोग कर रहे थे कि उन्होंने देखा कुछ चमकीली किरणों को जो कैथोड किरणों से कुछ ज्यादा ही लंबी थीं। उन्हें लगा कि उनके हाथ कोई नई किरण लग गई है।

अगले छह हफ्तों तक वे एक पागल की तरह काम करते रहे और उस अदृश्य किरण को खोजते रहे। अपनी खोज को व्यवस्थित रूप देने के बाद इस अनजान किरण को लेकर उन्होंने इसके गुणधर्म को लेकर भी कुछ प्रयोग कर डाले। उन्हें पता चला कि यह अदृश्य किरण अनेक धातुओं और अनेक चीजों की बाधा पार कर जाती है। उन्होंने यह भी पाया कि यह किरण हमारे शरीर की हड्डियों को पार कर फोटो खींचने वाली प्लेट्स को काला करते हुए हड्डियों की तस्वीर भी उतारती है।

दो महीने कोई ज्यादा नहीं होते, लेकिन 8 नवंबर के बाद के दो महीनों में इस अदृश्य किरण ने आने वाले दौर की चिकित्सा को बड़े पैमाने पर बदल देने का काम किया। छह जनवरी 1896 में लंदन स्टैंडर्ड ने इस खोज की खबर दुनिया भर में फैलाई और उसी हफ्ते इस खबर को पढ़ कर रोंगटेगन को लगभग एक हजार पत्र मिले थे। अगले एक महीने के भीतर ही इस अदृश्य किरण का उपयोग मेडिकल एक्सरे के लिए हुआ।

आने वाले दिनों में एक्सरे के उपयोग की जैसे होड़ लग गई। कुछ उपयोग हुआ, कुछ दुरुपयोग बढ़ा और साथ ही उस दौर के अनेक लालची व्यापारियों ने बाजार को ऐसी चीजों से भर दिया, जिनमें इस चमत्कारिक किरण की उपस्थिति बताई जाती थी। यह जानकर अचरज होगा कि कॉफी बनाने की एक्सरे मशीन, एक्सरे से चलने वाली घरेलू चक्की, एक्सरे बैटरी, एक्सरे टॉर्च, एक्सरे गोल्फ गेंद और तो और सिर दर्द दूर करने वाली एक्सरे गोलियां भी धड़ाधड़ बाजार में आ गई थीं।

दूसरे महायुद्ध के बाद एक्सरे का दूसरा अवतार सामने आया– अल्ट्रासाउंड। इसका सिद्धांत बहुत सरल था। ध्वनि की तरंगें किसी वस्तु से टकराकर वापस लौटती हैं। वापस लौटी इन तरंगों से आपको टकराने वाली वस्तु का आकार-प्रकार और दूरी भी पता चल सकती है। प्रकृति में यह कोई नई बात नहीं है। चमगादड़ें उड़ते समय अपना रास्ता खोजने के लिए इन्हीं ध्वनि तरंगों का सहारा लेती हैं। लेकिन मनुष्य के लिए यह एक बड़ा कदम था।

अनेक लालची व्यापारियों ने बाजार को ऐसी चीजों से भर दिया, जिनमें इस चमत्कारिक किरण की उपस्थिति बताई जाती थी। यह जानकर अचरज होगा कि कॉफी बनाने की एक्सरे मशीन, एक्सरे से चलने वाली घरेलू चक्की, एक्सरे बैटरी, एक्सरे टॉर्च, एक्सरे गोल्फ गेंद और तो और सिर दर्द दूर करने वाली एक्सरे गोलियां भी धड़ाधड़ बाजार में आ गई थीं।

इन ध्वनि तरंगों ने आने वाले दौर में चिकित्सा जगत में एक्सरे की तरह ही भारी हलचल मचाई। फिर इसके दुरुपयोग ने तो चिकित्सा के बहाने समाज को भी तहस-नहस करना शुरू कर दिया। अल्ट्रासाउंड का उपयोग प्रसव से पहले गर्भस्थ शिशु का लिंग जानने के लिए होने लगा। लड़के की लालच ने माता-पिता, परिवार, डाक्टर, मशीन और अस्पतालों को एकरूप कर दिया। कई सालों तक एक अच्छी चीज का बेजा इस्तेमाल समाज को बहुत भारी पड़ा। इसका दुरुपयोग अनपढ़ बताए गए समाज से कहीं ज्यादा पढ़े-लिखे शहरी समाज ने किया। सृष्टि चलाने के लिए प्रकृति ने स्त्री-पुरुष को जो समान दर्जा दिया था, इस अल्ट्रासाउंड ने उसे उल्टा-पुलटा करना प्रारंभ किया। पंजाब, हरियाणा और इन दोनों राज्यों की राजधानी चंडीगढ़ का चित्र बताता है कि एक अच्छी चीज का कैसा दुरुपयोग किया जा सकता है। प्रति व्यक्ति आमदनी और साक्षरता के आंकड़ों में अग्रणी कहा जाने वाला यह इलाका स्त्री-पुरुष के अनुपात में भयानक रूप से

पिछड़ा साबित होता है।

घर में कन्या नहीं चाहिए लेकिन फिर जवान बेटे के लिए आदर्श बहु तो लानी ही है। इसने इस इलाके में एक दूसरी भयानक समस्या को जन्म दिया है। यहां के अनेक परिवार अब विवाह के लिए दूसरे राज्यों की तरफ देखते हैं। सरकार ने अल्ट्रासाउंड के दुरुपयोग के खिलाफ अब सख्त कानून बनाए हैं। संतान का लिंग बताना अब दंडनीय अपराध घोषित हुआ है।

घर में कन्या नहीं चाहिए लेकिन फिर जवान बेटे के लिए आदर्श बहु तो लानी ही है। इसने इस इलाके में एक दूसरी भयानक समस्या को जन्म दिया है। यहां के अनेक परिवार अब विवाह के लिए दूसरे राज्यों की तरफ देखते हैं। सरकार ने अल्ट्रासाउंड के दुरुपयोग के खिलाफ अब सख्त कानून बनाए हैं। संतान का लिंग बताना अब दंडनीय अपराध घोषित हुआ है।

इन अच्छी चीजों के बेजा इस्तेमाल की समस्या यहीं खतम नहीं होती। एक्सरे के प्रारंभिक दौर में एक्सरे मशीनों पर काम करने वाले डॉक्टरों और उनके सहायकों पर खतरा मंडराता था। उन्हें इस अदृश्य किरण की खुराक ज्यादा मिल जाने पर भारी कीमत चुकानी पड़ती थी। फिर बाद में ऐसे बिल्ले बन गए, जिन्हें एक्सरे मशीन पर काम करने वाले लोग पहन लेते थे और उसमें बदलने वाले रंगों से किरणों की मात्रा का पता चलने लगा था। डॉक्टर का संकट कम हुआ लेकिन अब रोगियों पर आने वाला संकट बढ़ चला है। बाजार की लालच ने छोटे-बड़े तमाम शहरों में जगह-जगह ढेर सारे एक्सरे और अल्ट्रासाउंड क्लीनिक खोल दिए हैं। इनमें जरूरी और गैर-जरूरी जांचें होती रहती हैं, बिना यह जाने कि ये अदृश्य तरंगें शरीर पर कैसा असर छोड़ती हैं।

इन तरंगों के संपर्क में ज्यादा आने से कैंसर जैसे रोग होते हैं। इसलिए एक्सरे को दोधारी तलवार भी कहा है। खूब लाभ और खूब हानि भी। 'द न्यू इंग्लैंड जनरल ऑफ मेडिसीन' नामक एक पत्रिका ने अपने संपादकीय में बताया है कि 1992 से अब तक एक्सरे का उपयोग करने वाली स्कैन मशीनों की संख्या (सीटी स्कैन) कोई चार गुना बढ़ गई है। कैंसर जिन कारणों से होता है, उनमें दो प्रतिशत नए रोगी इन किरणों के बेजा इस्तेमाल से बढ़ चले हैं। रोगी के शरीर में इन किरणों के दुष्प्रभाव की जानकारी बहुत लंबे समय बाद पता चलती है। इसलिए इस विषय में ठीक से जांच-पड़ताल करने के लिए डॉक्टर भी आसानी से तैयार नहीं होते।

चिकित्सा अब केवल रोगों के इलाज का पेशा नहीं बचा है। अब यह बाकायदा एक बड़ा धंधा भी बन गया है। छोटे-बड़े निजी अस्पतालों की रोज-रोज बढ़ती संख्या और इन्हीं के साथ बढ़ते एक्सरे, अल्ट्रासाउंड क्लीनिक और इमेज सेंटर यही तो बताते हैं। अगर सभी मामलों में व्यापार और लालच न भी देखा जाए तो प्रायः डॉक्टर ठीक परिणाम न आने पर, संतोषजनक तस्वीर न दिखने पर, रोगी के हित में ही सही, कई बार दोबारा, तिबारा भी मशीन का उपयोग करते हैं और इस सबका अंतिम दुष्परिणाम रोगी को ही भुगतना होता है।

इसमें कोई शक नहीं कि एक्सरे की खोज ने चिकित्सा का चेहरा बिलकुल बदल दिया था। फिर एक्सरे परिवार में जुड़ती गई नई खोजों ने– अल्ट्रासाउंड, सीटी स्केन, एम आर आई आदि ने इस दृश्य को और भी तेजी से बदला है। लेकिन इन सबके साथ कई नई समस्याएं भी आई हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि एक्सरे की खोज ने चिकित्सा का चेहरा बिल्कुल बदल दिया था। फिर एक्सरे परिवार में जुड़ती गई खोजों ने– अल्ट्रासाउंड, सीटी स्केन, एम आर आई आदि ने इस दृश्य को और भी तेजी से बदला है। लेकिन इन सबके साथ कई नई समस्याएं भी आई हैं। हम उन्हें संभालने की कोशिश भी कर रहे हैं। लेकिन पक्के तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी इन कोशिशों का कुछ ठीक नतीजा निकल पाएगा।

इलाज की दुनिया में अच्छी चीजों का बेजा इस्तेमाल ला-इलाज नहीं होना चाहिए।

लेखक श्री संजय ए. पै
बैंगलोर में सर्जरीकल पैथलॉजिस्ट हैं और
चिकित्सा के इतिहास में विशेष रुचि रखते हैं।

पुणे से प्रकाशित एजेंडा नामक पत्रिका के
बीसवें अंक से साभार। अंग्रेजी से हिन्दी अनुपम मिश्र द्वारा।

*

लापोड़िया गांवः खबरों में नहीं बहा

लक्ष्मणसिंह खंगारोत

हमारे यहां तब तक पानी गिरा नहीं था। अगस्त का पहला हफ्ता बीत गया था। आसपास, दूर-दूर सूखा ही सूखा था। सूखा राहत का काम भी शुरु हो रहा था कि अगले दिन बरसात आ गई। सात अगस्त 2012 तक सूखा। और ये लो भई आठ अगस्त से राजस्थान में राजधानी जयपुर समेत दूर-दूर बाढ़ आ गई। बाढ़ राहत की मांग उठने लगी और वह काम भी शुरू हो गया!

बरसात नहीं तो राहत, बरसात पड़े तो राहत। बेचारे इन्द्र भगवान भी हैरत में होंगे कि इन लोगों पर वर्षा करूं या नहीं। हमें शायद वर्षा के देवता की जरूरत नहीं है। अब तो हम बस राहत के देवता की पूजा करते हैं। समाज भी और सरकार भी राहत को एक अनिवार्य स्थिति की तरह मानने-बनाने में जुट गए हैं।

इससे वोट की राजनीति शायद कुछ मजबूत हो जाए पर अंततः समाज तो कमजोर से कमजोर होकर टूटेगा ही।

राजस्थान में यों भी देश के अन्य कई राज्यों के मुकाबले पानी थोड़ा कम ही गिरता है। अकाल चाहे जब आते हैं। पिछले बारह साल में हमारे इलाके में हुई वर्षा को देखें तो चित्र साफ हो जाएगा। सन् 2001 से 2009 तक को देखें। सन् 2001 से 2002 तक अकाल था। फिर थोड़ा पानी जरूर गिरा पर सन् 2004 से 2009 तक फिर अकाल चला था। राजस्थान अकाल के इन वर्षों में लगभग टूट गया था।

पर इस बुरे दौर में भी जयपुर जिले की दूदू तहसील और मालपुरा तहसील के कोई पचास गांव हमारे अपने गांव लापोड़िया के साथ सिर उठाए खड़े रहे। ये टूटे नहीं थे। उस दौर में न तो हम अकाल में तड़पे और न आज सन् 2012 में आई बाढ़ में डूबे। जयपुर डूबा। देश भर के सभी टेलिविजनों ने उसे बहते हुए दिखाया। पर लापोड़िया और उस जैसा अच्छा काम कर चुके गांवों में ऐसा कुछ नहीं हुआ। हम खबरों में नहीं आए– इसे हम अपना सौभाग्य मानते हैं। उतनी

वर्षा उस दिन हमारे गांवों में भी तो हुई थी। पर हम बहे नहीं। अब तो मानसून लौट गया है। दीपावली आ रही है। पर यदि लौटते-लौटते भी मानसून एक बार उतना ही पानी और गिरा जाता, तब भी हम बहते नहीं, डूबते नहीं।

वही धरती, वही आकाश, वही वर्षा। तब ऐसा क्या अंतर है कि हमारे इलाके में जयपुर डूबता है, और गांव डूबते हैं, सड़कें टूटती हैं, पुलिया, पुल उखड़ जाते हैं पर हमारे यहां ऐसा कुछ नहीं होता? अंतर बस इतना ही है कि हमारा गांव कम से कम पानी के मामले में अपनी योजना खुद ही बनाता है। वह इंद्र देवता के आगमन से पहले उनके स्वागत की तैयारी बड़े आदर से करता है। हमारे गांव में तीन तालाब हैं। दो थोड़े छोटे, गांव के ही भीतर और फिर एक बहुत ही बड़ा तालाब गांव और खेतों के बीच थोड़ा बाहर की ओर। एक नाड़ी भी है। तीनधाम नाड़ी। यानी छोटा तालाब। फिर एक बहुत बड़ा गोचर भी है गांव का। वर्षा कम हो या ज्यादा हो– गांव इन तालाबों, नाड़ी और गोचर पर इंद्र देवता के आगमन की बड़ी बारीकी से तैयारी करता है।

हमारे पशु तरह-तरह की घास और साथ ही गोचर में उगी तरह-तरह की जड़ी-बूटियों का सेवन करते हैं, उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वे ज्यादा स्वादिष्ट और पौष्टिक दूध हमें देते हैं। इस इलाके से जो दूध मिलता है उसकी प्रशंसा जयपुर डेरी उद्योग ने भी की है। आसपास जब अकाल पड़ा था या बाढ़ आई थी तब भी हमारे छोटे-से गांव लापोड़िया ने अपने घर परिवार में अच्छे से दूध-दही और मक्खन खाने के बाद औसत 50 लाख रुपए का दूध जयपुर डेरी को दिया है।

इसे थोड़ा विस्तार से समझें। नहीं तो आप अपने गांव में इसे कैसे कर पाएंगे?

हमारे इलाके के प्रायः सभी गांवों में गोचर की जमीन बहुत होती है। कहीं-कहीं एक हजार बीघा का गोचर भी मिलेगा।

हमारे गांव में गोचर चार सौ बीघा में फैला है। अपने इलाके और देश के सैकड़ों, हजारों गांव की तरह हमारा यह गोचर भी कुछ साल पहले बिल्कुल उजाड़ पड़ा था। यहां-वहां और जगहों की तरह छोटे-बड़े कब्जे भी हो गए थे। लेकिन फिर कोई 12-15 साल पहले लापोड़िया गांव को अपने पैरों पर खड़े होने की एक इच्छा जगी। सबको समझा-बुझाकर कब्जे हटाए गए। टूटे-फूटे और उदास पड़े तालाबों को भी मिल-जुलकर ठीक किया। तभी लगा कि बंजर पड़े इतने विशाल गोचर का क्या किया जाए। इसे गांव के लिए फिर से कैसे हरा-भरा बनाएं।

तब हमें यह सूझा कि इस विशाल गोचर में कोई एक बित्ता उंचे चौके बनाकर उन क्यारियों में इंद्र देवता का स्वागत करना चाहिए। जो पानी गिरते ही

हमारे देखते-देखते विशाल गोचर से बहकर बर्बाद हो जाता है या बाढ़ वाले पानी में मिलकर बाढ़ की ताकत बढ़ाता है– उस पानी को इन चौकों में रोककर धीरे-धीरे गोचर की जमीन में भूजल को बढ़ाना चाहिए। यदि ऐसा कर सके तो गांव को अपने पशुओं के लिए इसकी नमी से ढेर सारी घास और अनगिनत पेड़ पौधे भी मिल सकेंगे। भूजल समृद्ध होने से हमारे गांव के सूखे पड़े लगभग 100 कुंए भी लबालब भरने लगेंगे।

हम छोटे-छोटे लोगों ने जैसी छोटी-छोटी योजनाएं बनाईं, हमारे बड़े देवता इंद्र ने उनको अच्छी तरह से स्वीकार कर लिया। और हमें जो प्रसाद बांटा है उसका हम ठीक-ठीक वर्णन भी आपके सामने नहीं कर पाएंगे।

हम छोटे-छोटे लोगों ने जैसी छोटी-छोटी योजनाएं बनाईं, हमारे बड़े देवता इंद्र ने उनको अच्छी तरह से स्वीकार कर लिया। और हमें जो प्रसाद बांटा है उसका हम ठीक-ठीक वर्णन भी आपके सामने नहीं कर पाएंगे।

अब हमारे गांव में खूब अच्छी बरसात आए, तो आनंद आता है, बाढ़ नहीं आती। पानी तालाबों में भरता है, विशाल गोचर में थोड़ी देर विश्राम करता है, धरती के नीचे उतरता है। नीचे से धीरे-धीरे झिरते हुए गांव के कुंओं में उतरता है। ये कुंए बस्ती में बने हैं और दूर-दूर खेतों में भी।

इन सब कोशिशों का नतीजा है कि तेज से तेज वर्षा भी हमारे गांव लापोड़िया में आकर आराम करती है। धरती के नीचे, धरती के ऊपर सब जगह धीरे-धीरे भरती है और फिर यदि अगले साल किसी कारण बरसात कम हो, अकाल जैसी परिस्थितियां हों तो भी वह यहां महसूस नहीं होती। पहले हमें लगता था कि हमारा बड़ा तालाब हमारे पुरखों ने कुछ ज्यादा बड़ा बना दिया है। यहां की औसत बरसात में यह कभी पूरा नहीं भर पाता। लेकिन पुरखों ने इसे 10-12 वर्ष में एक बार आने वाली भारी वर्षा को संभालने के लिए बनाया था। इस तरह देखें तो हमारे गांव की यह पुरानी मानी गई व्यवस्था एकदम आधुनिक है। इसमें 'मनरेगा', सूखा राहत, बाढ़ राहत, लघु सिंचाई मंत्रालय जैसी करोड़ों रुपयों की योजना बिना पैसा खर्च किए समा जाती हैं।

गोचर का प्रसाद भी वर्णन से परे है। विशाल गोचर में चौकड़ियां बनाकर जो नमी रोकी गई है उससे प्रकृति ने असंख्य पेड़-पौधे खुद ही लगाकर बढ़ा लिए हैं। न जाने कितनी तरह की घास, अलग-अलग पशु-पक्षियों के स्वाद और उपयोग को देखकर निकल आयी हैं। अब हमारे पशु तरह-तरह की घास और साथ ही गोचर में उगी तरह-तरह की जड़ी-बूटियों का सेवन करते हैं, उनका स्वास्थ्य अच्छा

रहता है। वे ज्यादा स्वादिष्ट और पौष्टिक दूध हमें देते हैं। इस इलाके से जो दूध मिलता है उसकी प्रशंसा जयपुर डेरी उद्योग ने भी की है। आसपास जब अकाल पड़ा था या बाढ़ आई थी तब भी हमारे छोटे-से गांव लापोड़िया ने अपने घर परिवार में अच्छे से दूध-दही और मक्खन खाने बाद औसत 50 लाख रुपए का दूध जयपुर डेरी को दिया है।

गोचर में पनपी घास और पेड़ों के बीजों का संग्रह होता है। उन बीजों की पोटलियां और पौधे आसपास के 50 गांव में, खेतों पर, घरों में, तालाबों के किनारे और गोचरों में लगाए जाते हैं।

हर साल देवउठनी या अनपूछी ग्यारस को हमारा गांव एक बड़ी पदयात्रा निकालता है। इसे धरती जतन यात्रा कहते हैं। हर साल इसमें नए-नए गांव अपने आप जुड़ते जाते हैं। लोग अपने खेतों से अनाज लाते हैं, कोई दूध लाता है, कोई घी। सब मिलकर भोज बनाते हैं। ये सब काम हमारी संस्था ग्राम विकास नवयुवक मंडल ने किए हैं।

ये सारे काम कब और कैसे पंपन्न होते हैं? हर साल देवउठनी या अनपूछी ग्यारस को हमारा गांव एक बड़ी पदयात्रा निकालता है। इसे धरती जतन यात्रा कहते हैं। हर साल इसमें नए-नए गांव अपने आप जुड़ते जाते हैं। लोग अपने खेतों से अनाज लाते हैं, कोई दूध लाता है, कोई घी। सब मिलकर भोज बनाते हैं। ये सब काम हमारी संस्था ग्राम विकास नवयुवक मंडल ने किए हैं।

अपने गांव को बचाने का यह सरल काम कभी-कभी राजनीति वाले बहुत कठिन भी बना देते हैं। हमने ये अच्छे काम कई बार अधिकारियों और नेताओं के हाथों अपमानित होने के बाद भी जारी रखे हैं। गांव ने मिल-जुलकर सबको समझा-बुझाकर सारे अतिक्रमण हटाए थे, तो आज 25 साल बाद कुछ नेताओं की शह से फिर से इक्के-दुक्के अतिक्रमण हुए हैं। इस बात से हमें पीड़ा जरूरी होती है, लेकिन हम निराश नहीं हैं। हम सबने मिलकर जो छोटे-छोटे, अच्छे-अच्छे काम किए हैं, उनसे इतना तो साबित हुआ ही है कि हम अकाल और बाढ़ से ऊपर उठ सके हैं।

अन्य कई युवकों की तरह अपने उजड़े गांव से पलायन कर दूसरे शहरों में जीविका तलाशते हुए श्री लक्ष्मणसिंह को वापस गांव लौट कर उसे ही संवारने की प्रेरणा मिली। उसे उन्होंने 'ग्राम विकास नवयुवक मंडल' बनाकर संवार लिया है।

*

पुराना चावल

कुछ ऐसी तान सुनाने वाला कवि

भवानीप्रसाद मिश्र

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम मन में आते ही आंखों के सामने एक तराशे हुए आदमी का चित्र खिंच जाता है। छह फुट लंबा, व्यायाम से सधाया-तपाया बलिष्ठ शरीर, विशाल वक्षस्थल, वृषभस्कंध, दीर्घबाहु, कुछ लाली लिए हुए चिट्ठा रंग, उन्नत भाल, नुकीली नासिका, बड़ी और पैनी आंखें, खिंचे हुए होंठ और तेजयुक्त प्रभावशाली मुखमंडल! उनको देखकर लगता था जैसे किसी मूर्तिकार ने अपनी सारी कल्पना समेटकर एक मूर्ति गढ़ना तय किया हो। साहित्य-जगत में ही नहीं, कहीं भी उनके समान प्रियदर्शन व्यक्ति मिलना सरल नहीं था।

सन् 1933 की घटना है। प्रयाग में द्विवेदी मेला मनाया जा रहा था। उसमें कवि-दरबार का भी आयोजन किया गया। पंत, निराला, तथा 'नवीन' जी की भूमिकाओं के लिए व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। पंत और 'निराला' के लिए तो वांछित व्यक्ति मिल गए लेकिन 'नवीन' के लिए कोई उपयुक्त पात्र नहीं मिला। कोई शरीर से तो कोई स्वर से अयोग्य लगता। संयोजक कहते, ये नवीन बनेंगे? नवीन बनने के लिए चाहिए वृषभस्कंध, केहिर-ध्वनि, बलनिधि, बाहु विशाल। अंत में निराश होकर 'नवीन' जी की भूमिका छोड़ देनी पड़ी।

साफ धुला खद्दर का कुर्ता-पाजामा पहने, सिर पर तिरछी टोपी दिए, कभी किसी समाज में पहुंच जाते तो बड़े से बड़ा आदमी छोटा लगने लगता था। उनके आसपास हंसी और उल्लास की तो जैसे बरसात ही होती रहती थी। आत्मीयता ऐसी कि पहली बार मिलकर ही मुझे लगा कि 'नवीन' जी ने मुझे नए आदमी की तरह ग्रहण नहीं किया है। उनमें निरर्थक व्यवहार-कुशलता और बनावटी विनम्रता नहीं थी। सबसे स्वाभाविक, आत्मीय भाव से मिलते थे। उनके लिए कोई भी अविश्वसनीय नहीं था। कहते हैं, कभी गुस्से में आ जाते तो सारा शरीर कांपने लगता, चेहरा तमतमा जाता, आंखें जल उठतीं; किंतु उनका यह रौद्र शंकरी रूप विरल था। मुझे उसे देखने का भाग्य नहीं मिला।

जीवन उनका संघर्षों की एक कहानी है। शायद जिस दिन से आए, अपने चले जाने तक वे भीतर-बाहर जूझते ही रहे। 8 दिसंबर, सन् 1897 के मध्य भारत के शाजापुर परगने के मियाना गांव में एक अत्यंत दरिद्र भगवद्-भक्त वैष्णव-ब्राह्मण जमुनादास के घर पैदा हुए। 'नवीन' जी ने लिखा है, "मेरी माता कहा करती हैं कि गायों के बांधने के बाड़े में अपने राम ने जन्म लिया था। मेरे पिता बहुत गरीब थे। अतः जन्म के समय सिवा थाली बजने के और कुछ धूमधाम नहीं हुई।"

शालेय पढ़ाई-लिखाई को 'नवीन' जी ने कभी कुछ गिना नहीं। पढ़ने में वे विशेष योग्य नहीं थे। लेकिन साहित्य, समाज और राजनीति के खुले आसमान के नीचे आकर खड़े हो पाने का कोई अवसर उन्होंने कभी हाथ से नहीं जाने दिया।

बचपन आर्थिक अभाव एवं विपन्नता में बीता। 11 वर्ष की अवस्था तक पढ़ाई का कोई ठीक प्रबंध न हो सका। पिता उन दिनों नाथद्वारा में थे। मां शाजापुर में अनाज पीसकर कुछ पैसे कमा लेती थीं। "पैरों में जूते पहनना एक आरामतलबी समझी जाती थी, इसलिए बंदा नंगे पैरों रहता था। ... पैबंद लगे कपड़े पहनना और साल में सिर्फ दो धोतियों पर गुजर करना एक मामूली और बिलकुल स्वाभाविक बात थी।" किताबें दूसरों से मांगकर पढ़नी पड़ती थीं। उन्होंने शाजापुर से मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की।

और चूंकि आगे पढ़ना चाहते थे, वे उज्जैन चले गए। वहां हाई स्कूल की परीक्षा पास की। शाजापुर में उन्होंने आर्य समाज सभा का समूचा पुस्तकालय चाट डाला था, अवश्य ही एक नए सामाजिक आदर्श ने उनके किशोर मन को व्याकुल किया होगा। यहां उज्जैन में तत्कालीन राजनीतिक और साहित्यिक हलचलों का संस्पर्श उन्हें हुआ। शालेय पढ़ाई-लिखाई को 'नवीन' जी ने कभी कुछ गिना नहीं। पढ़ने में वे विशेष योग्य नहीं थे। लेकिन साहित्य, समाज और राजनीति के खुले आसमान के नीचे आकर खड़े हो पाने का कोई अवसर उन्होंने कभी हाथ से नहीं जाने दिया।

एक दिन उन्होंने समाचार पत्र में लोकमान्य तिलक का वह भाषण पढ़ा जिसमें देश की जनता को दिसंबर 1916 की लखनऊ कांग्रेस में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया गया था। तिलक बालकृष्ण के हृदय-सम्राट थे। उन्होंने लखनऊ जाना तय कर लिया। जैसे-तैसे उन्होंने कुछ पैसे जुटा लिए और नंगे पैर कंधे पर कंबल, हाथ में लाठी लेकर लखनऊ चल दिए। लखनऊ का नाम-भर सुना था; न किसी से जान-पहचान थी; न ऐसे यात्रा-पटु ही थे कि अनजानी जगह को कुछ न गिनते; गाड़ी में ही एक महाराष्ट्रीय सज्जन से उनका परिचय हो गया

और उन्हीं के साथ वे एक जगह ठहर गए। सुबह वहीं उनका माखनलाल चतुर्वेदी से भी परिचय हुआ। यह परिचय शीघ्र ही घनिष्ठता में परिणत हो गया। श्री माखनलाल चतुर्वेदी के ही माध्यम से उनका श्री गणेश शंकर विद्यार्थी तथा मैथिलीशरण जी गुप्त से भी परिचय हुआ। निहायत दुबले-पतले, चश्मा लगाए तेजस्वी नवयुवक को देखकर बालकृष्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उनके काल्पनिक चित्र से गणेशजी का यह वास्तविक चित्र बिलकुल भी मेल नहीं रखता था।

'नवीन' जी कांग्रेस देखने आए थे। किन्तु बड़ा प्रयत्न करने पर भी उन्हें पहले दिन कांग्रेस देखने के लिए टिकट प्राप्त न हो सका। तो भी न उन्होंने दुख माना और न निराश हुए। बाहर द्वार पर खड़े-खड़े अधिवेशन की जितनी झलकियां ले सकते थे, लेते रहे। पहले दिन का अधिवेशन समाप्त हुआ और लोकमान्य तिलक बाहर निकले। 'नवीन' जी भीड़ चीरते हुए, आंखों में आंसू भरे लोकमान्य के निकट पहुंच गए। उनके चरण स्पर्श किए और समझा कि लखनऊ आना सफल हो गया। विद्यार्थीजी को इस घटना का पता चला तो उन्होंने नवीन के लिए एक टिकट का प्रबंध कर दिया।

निहायत दुबले-पतले, चश्मा लगाए तेजस्वी नवयुवक को देखकर बालकृष्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उनके काल्पनिक चित्र से गणेशजी का यह वास्तविक चित्र बिलकुल भी मेल नहीं रखता था।

'नवीन' जी की लखनऊ यात्रा अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। उनके वास्तविक जीवन का आरंभ ही यहीं से समझना चाहिए। गणेशशंकर विद्यार्थी का संपर्क होना 'नवीन' जी के जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। यही वह धुरी है, बाद में जिस पर 'नवीन' का व्यक्तिगत, साहित्यिक और राजनीतिक जीवन घूमता रहा।

लखनऊ से उज्जैन वापस आकर बालकृष्ण ने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे पढ़ने की इच्छा तो बहुत थी किंतु कोई उपाय दिखाई नहीं देता था। सोचते-सोचते बालकृष्ण को लगा, क्यों न कानपुर विद्यार्थीजी के पास चला जाऊं। वे जैसा कहेंगे वैसा करूंगा। उन्होंने कानपुर जाने की अपनी यह इच्छा जब मां पर प्रकट की तो मां ने कहा, " बेटा, हम लोग ऐसे कहां हैं कि तुझे कानपुर भेज कर पढ़ा सकें। तूने काफी पढ़ लिया है, यहीं भगवान की झारी भर। प्रभु जो कुछ रूखा-सूखा देंगे, उसमें संतोष मानकर हम उनका ही भजन करेंगे बेटा।" बालकृष्ण का भविष्यद्रष्टा, स्वप्नशील मन मां की इस विवेचना से निराश नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "भगवान की झारी तू भर; और मुझे भारत माता की झारी

भरने के लिए मुक्त कर दे।"

गणेशजी ने बालकृष्ण को स्थानीय क्राइस्ट चर्च कॉलेज में प्रवेश दिला दिया और बीस रुपए मासिक की एक ट्यूशन का प्रबंध भी कर दिया। 'नवीन' जी पढ़ते-पढ़ाते और गणेशजी के प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' में काम भी करते। इस प्रकार गणेशजी के संरक्षण में 'नवीन' जी का राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन आरंभ हो गया।

इस काल में 'नवीन' जी ने राजनीति, इतिहास, दर्शन, धर्म तथा संस्कृत, अंग्रेजी और हिंदी साहित्य का खास अध्ययन किया। थोड़े ही समय में कानपुर के साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में 'नवीन' जी ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। कानपुर के मजदूर आंदोलन में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया। एक कवि के रूप में भी वे जल्दी पर्याप्त प्रसिद्ध हो गए। उन दिनों उनकी 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ' कविता जनता का कंठहार बनी हुई थी। लिखने-लिखाने का सिलसिला तेजी से चल रहा था, मगर 'गांधी बाबा की आंधी चल पड़ी' और संयुक्त प्रदेश से सत्याग्रहियों का जो पहला जत्था तय हुआ उसमें बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम मौजूद था।

क्राइस्ट चर्च कॉलेज छोड़ दिया। सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने पर उन्हें सन् 1921 में पहली बार डेढ़ वर्ष की सजा दी गई। उन्हें बदल-बदलकर कई जेलों में भेजा गया, इस जेल-यात्रा के परिणामस्वरूप 'नवीन' जी पं. जवाहरलाल नेहरू, आचार्य कृपलानी, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन आदि देश के शीर्षरूप नेताओं के संपर्क में आए।

'नवीन' जी को छह बार जेल यात्रा करनी पड़ी। लगभग नौ वर्षों का समय उन्होंने जेलखानों में बिताया। जेलखाना राजनैतिक कैदी का विश्वविद्यालय ही समझिए। बेशक लखनऊ जेल ऐसा ही सिद्ध हुआ। यहां पंडित जवाहरलाल नेहरू से उन्होंने अंग्रेजी और भूमिति पढ़ी। और 'नवीन' जी ने जवाहरलाल को कवायद सिखाई।

'उर्मिला' महाकाव्य का प्रथम सर्ग, उनकी प्रथम जेलयात्रा के समय ही लिखा गया था। और सन् 1932 के ढाई वर्ष के कारावास-काल में इसकी समाप्ति हुई थी। उनकी रचनाओं पर दी हुई तिथियों एवं स्थानों से ज्ञात होता है कि उनकी अधिकांश कविताएं जेलखाने की चहारदीवारी में बैठकर ही लिखी गई हैं। बाहर आकर तो उन्हें राजनीतिक हलचल और 'प्रताप' के संपादन से ही अवकाश नहीं मिल पाता था और यह तो तय ही है कि और चाहे जो काम भाग-दौड़ में हो जाए, कविता भाग-दौड़ की चीज नहीं है। उसे तो आलस्य से भी कुछ अधिक लापरवाही कर सकने की सुविधा चाहिए।

विद्यार्थी जी की मृत्यु के बाद उनका स्मारक बनाने की दृष्टि से एक निधि संग्रह समिति भी बनी और उसकी लगभग सारी जिम्मेदारी 'नवीन' जी पर डाली गई। 'हरिजन सेवक' में स्वयं गांधीजी ने लोगों को निधि में रकम भेजने का आह्वान करते आश्वस्त भाव से कहा, "जिस संपदा का संरक्षक बालकृष्ण हो, उसके बारे में सोच-विचार क्या।"

गांधीजी के प्रति उनमें अपार श्रद्धा थी। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के शब्दों में 'गांधीजी के वे मजनूं थे।' गांधीजी के संकेत-मात्र पर वे अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार हो जाते थे। जब सांप्रदायिक निर्णय के विरुद्ध गांधीजी ने आमरण अनशन किया, तब 'नवीन' जी बड़े चिंतित हुए थे। उनके लिए कोरी चिंता का कोई अर्थ नहीं था। जितने दिनों तक गांधीजी का अनशन चला, उन्होंने भी उतने दिनों तक जल के अतिरिक्त कुछ ग्रहण नहीं किया।

'नवीन' जी को छह बार जेल यात्रा करनी पड़ी। लगभग नौ वर्षों का समय उन्होंने जेलखानों में बिताया। जेलखाना राजनैतिक कैदी का विश्वविद्यालय ही समझिए। बेशक लखनऊ जेल ऐसा ही सिद्ध हुआ। यहां पंडित जवाहरलाल नेहरू से उन्होंने अंग्रेजी और भूमिति पढ़ी। और 'नवीन' जी ने जवाहरलाल को कवायद सिखाई।

स्वातंत्र्य-संग्राम में उनका योगदान बहुमुखी तथा अद्वितीय था। उनमें क्रांतिकारियों के समान आत्मत्याग और सच्चे योद्धा के समान शौर्य था। देश के लिए उन्होंने कुछ भी त्यागने में मोह नहीं किया, अपना घर-बार, पढ़ाई-लिखाई सब कुछ। कांग्रेस संगठन और देश की जनता में इसीलिए 'नवीन' जी जैसा आदर और स्नेह पाते थे, वैसा पाने का भाग्य विरले जनसेवक का ही होता है। वे कई बार उत्तर प्रदेश की कांग्रेस समिति के अध्यक्ष और महामंत्री चुने गए थे।

सन् 1947 में देश के स्वतंत्र हो जाने पर वे संविधान परिषद के सदस्य मनोनीत हुए। 1951 के प्रथम जनचुनावों में कानपुर से लोकसभा के लिए निर्वाचित होकर आए। सन् 1955 में संसद द्वारा नियोजित भाषा आयोग के वे वरिष्ठ सदस्य थे। सन् 57 और 60 में राज्यसभा के लिए उत्तर प्रदेश से निर्वाचित होकर आए।

लेकिन आजादी के बाद उनका राजनैतिक जीवन निष्क्रिय होता चला गया। स्वतंत्र हो जाने पर भी पददलित जनता तिलमिला ही रही थी।

विधान बदल गया था लेकिन उन्हें प्रशासन बदला हुआ नहीं लगता था। उन्होंने आजादी के बाद अपनी सेवाओं की हुण्डी भुनाने का प्रयत्न नहीं किया

इसलिए उन्हें एक असफल राजनीतिज्ञ की भी संज्ञा दी गई। लेकिन वे राजनीतिज्ञ थे ही नहीं। वे एक सहृदय, भावुक रस-डूबे फकीर थे, जिन्होंने अपनी तल्लीनता में जो सामने आया उसे निभाया और उसे अपना सर्वस्व दिया– चाहे वह राजनीति थी, चाहे साहित्य या चाहे कोई व्यक्ति।

जब सांप्रदायिक निर्णय के विरुद्ध गांधीजी ने आमरण अनशन किया, तब 'नवीन' जी बड़े चिंतित हुए थे। उनके लिए कोरी चिंता का कोई अर्थ नहीं था। जितने दिनों तक गांधीजी का अनशन चला, उन्होंने भी उतने दिनों तक जल के अतिरिक्त कुछ ग्रहण नहीं किया।

उनकी कविता-पाठ का ठाठ तो निराला ही था। वाणी में अजीब आकर्षण था जो किसी को भी अप्रभावित नहीं छोड़ता था। जब वे भाषण देते तो जैसे अंगारे बरसते। जब वे पालथी मार, रीढ़ सीधी कर, सीना खींचकर, ओजस्वी स्वर में कविता-पाठ करते तो श्रोतागण भी उनके साथ झूम उठते।

आंदोलन के युग में उनकी पत्रकारिता तलवार-सी चलती थी। सरकार राष्ट्रीय पत्रों और पत्रकारों को हर प्रकार से तंग करने में लगी हुई थी; लेकिन 'नवीन' ने सच, और सो भी पूरे जोर के साथ, कहने में कभी आगा-पीछा नहीं किया। केवल अपने लेखों के कारण उन्हें तत्कालीन सरकार ने तीन-चार बार जेलखाने की सजा दी थी। अन्याय का दमन करने और न्याय का पक्ष लेने में वे सदा दृढ़ और आग्रही रहे।

भारतीय संविधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा का जो सम्मानित पद प्राप्त हुआ है, उसमें 'नवीन' जी का योगदान अविस्मरणीय है। उनके लेखे हिंदी समूची राष्ट्रीयता ही थी और इसीलिए उसके लिए उन्होंने बड़े से बड़े व्यक्तियों से टक्कर ली, बड़े से बड़े विरोध का सामना किया। संविधान परिषद के दिनों में जिन्होंने उनको काम करते देखा है वे जानते हैं कि नवीनजी के हृदय में हिंदी के प्रति कितनी आग थी। हिंदी के प्रश्न पर अनेक बार नेहरूजी से भी उनकी झड़प हो जाती थी।

'नवीन' जी महापुरुषों में भी महापुरुष थे। देवता कहना उनके मानव-तत्त्व को अपमानित करना होगा। देवता मानव के दुख-सुख, हर्ष-विषाद, गुण-अवगुण को क्या समझें। जो भी उनके संपर्क में आया, संपन्न और सार्थक हुआ।

कोई भी व्यक्ति शीघ्र ही अपने को उनके परिवार का बना ले सकता था, इतना उदार था उनका मन, इतना विशाल था उनका आंगन। परिचय शीघ्र ही आत्मीयता में बदल जाता। मित्रता को वे व्यावहारिकता के स्तर पर न लेकर

पारिवारिक स्तर पर लेते थे। उन जैसा सहायक-कृपालु-मित्र पाना वास्तव में बहुत बड़ा सौभाग्य था। मित्रों के लिए तो वे अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार हो जाते थे। गुप्तजी ने लिखा है, "गणेश शंकर में जैसे अपना लेने की सहज शक्ति थी, वैसे ही बालकृष्ण में अपना हो जाने की। आत्मीयता दोनों का नैसर्गिक गुण था। एक में स्वीकरण की क्षमता थी, दूसरे में समर्पण की क्षमता।" यदि उनके साथ किसी ने कोई एहसान कर दिया तो जन्म-भर उसके कृतज्ञ रहे। जिसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई उसके चरणों की धूल बन गए और अकिंचनों को भी स्नेह लुटाकर आसमान पर चढ़ा दिया।

अपने विरोधियों के प्रति भी वे उदारता का व्यवहार करते थे। पीड़ा पहुंचाने वाले को हृदय से लगा लेने की उनमें अपार क्षमता थी। उनका द्वेष गलत सिद्धांत के प्रति हो सकता था, किसी व्यक्ति के प्रति नहीं।

यों वे जन्मजात विद्रोही थे। वे जिसे गलत समझते उसका खुलकर विरोध करना उनका धर्म था। अनुचित बात को वे किसी मूल्य पर भी सहने को तैयार नहीं हो पाते थे। कहते हैं, पहले गणतंत्रीय कांग्रेस मंत्रिमंडल में नेहरूजी ने उन्हें उपमंत्री बनने के लिए आमंत्रित किया था; लेकिन उन्होंने किसी निश्चित कारण के आधार पर इसे स्वीकार नहीं किया। अपने विद्रोही स्वभाव के कारण वे 1954 में 5 मास के लिए कांग्रेस से भी अलग कर दिए गए थे; बाद में स्वयं जवाहरलालजी ने इस निर्णय पर हरताल फेरी।

एक ओर सहयोग और विनम्रता तो दूसरी ओर सिद्धांत के प्रति दृढ़ता और स्वाभिमान, एक ओर दार्शनिकों की-सी गंभीरता तो दूसरी ओर बालकों की-सी सरलता, एक ओर फक्कड़पन तो दूसरी ओर शालीनता, एक ओर ललकार तो दूसरी ओर पुचकार, एक ओर गजराजों से टकराने का साहस तो दूसरी ओर चींटियों से दब जाने का चाव, एक ओर अंगारों का ताप तो दूसरी ओर सुमनों का पराग, एक ओर घनगर्जन तो दूसरी ओर फुहारों की रिमझिम, एक ओर तांडव तो दूसरी ओर लास्य, एक आंख में हलाहल तो दूसरी में अमृत– अजीब विरोधी शक्तियों का सम्मिश्रण थे 'नवीन' जी।

'नवीन' जी फकीर बादशाह थे। जीवन-भर वे अर्थाभाव में रहे। 'प्रताप' परिवार में इन्हें 500 रुपया मासिक मिलता था। लेकिन इस रकम का अधिकांश असहाय परिवारों के ही काम आता था; अपनी निर्धता और अनिकेतनता पर उन्हें नाज था। संग्रह के नाम से तो उन्हें घृणा ही थी। वे कहा करते थे, "मेरा शरीर भिक्षान्न से पोषित है, अतः मुझे संग्रह करने का क्या अधिकार है।" वे देते थे लेकिन उसके बदले में धन्यवाद की भी उन्होंने अपेक्षा नहीं की क्योंकि यह वे किसी पर एहसान मानकर नहीं, अपना कर्तव्य मानकर करते थे।

'नवीन जी के अंतिम दिन बड़े कष्टमय रहे। तन का रोग और मन का क्लेश दोनों ने मिलकर अलमस्त 'नवीन' को निरीह बना दिया था। सन् 1955 से लेकर मृत्यु-पर्यन्त वे बीमार-से ही रहे। इन चार-पांच वर्षों में उन्हें अनेक बार अस्पताल में दाखिल होना पड़ा। उनके ऊपर पक्षाघात के तीन आक्रमण हुए। पक्षाघात के अतिरिक्त हृदय-रोग, रक्तचाप और संभवतः फेफड़े का कैंसर आदि अनेक बीमारियों ने एक साथ उन पर आक्रमण किया था। बीमारियों के चंगुल में एक बार फंसकर वे छूटे नहीं। उनकी वाणी चली गई थी, एक हद तक स्मृति भी। हाथ-पैर तो, खैर, शक्तिहीन हो ही गए थे। वह भव्य मुखमंडल पीला, ज्योतिपुंज नेत्र ज्योतिहीन और सुंदर हृष्ट-पुष्ट शरीर हड्डियों का ढांचा-मात्र रह गया था। वाणी के बादशाह के इस प्रकार मूक हो जाने से बड़ा कष्ट और क्या हो सकता है?

'नवीन' जी को आदमी जानता बाद को था, पहले प्यार करता था क्योंकि वह खुद आदमी को जानते बाद में थे, पहले प्यार करते थे। बड़ा कठिन है जिंदगी में इस रीत को निबाह सकना।

दिन पर दिन उनकी दशा चिंताजनक होती गई। मृत्यु से तीन-चार दिन पहले उनकी चेतना भी लुप्त हो गई थी। दीर्घ काल तक असहनीय वेदना और कष्ट सहने के बाद नवीनजी ने 29 अप्रैल, सन् 1960 को तीसरे पहर अंतिम सांस ली।

श्री बालकृष्ण राव ने उनके बारे में लिखा है,"यदि किसी उपन्यासकार ने 'नवीन' जी के इतिवृत्त की कल्पना की होती, उन जैसे नायक का चित्रांकन किया होता तो हम शायद यही कहते कि उसने अतिरंजना की है। हम कहते कि न तो कोई इतना सरल, शुद्ध, भावुक, उदार और साहसी होता है जितना उसने अपने चरितनायक को बताया है और न ऐसे नरपुंगव के अंतिम दिन इतने विषाक्त ही होते हैं। पर यह अतिरंजना किसी उपन्यासकार की नहीं थी– न यह अतिरंजना ही थी।"

'नवीन' जी को आदमी जानता बाद को था, पहले प्यार करता था क्योंकि वह खुद आदमी को जानते बाद में थे, पहले प्यार करते थे। बड़ा कठिन है जिंदगी में इस रीत को निबाह सकना।

*

पोथी पढ़ि पढ़ि

सारा भारत मेरा घर है

सईदा खुर्शीद आलम

वे सबके लिए मियां थे। उनके बच्चे भी उन्हें इसी नाम से पुकारते थे। एक संपन्न परिवार में जन्में लेकिन फिर क्षय और प्लेग रोग के कारण अपने पिता-माता और तीन भाईयों को खो बैठे जाकिर हुसैन सचमुच अनाथ ही हो गए थे। तिनका-तिनका फिर से जोड़ न सिर्फ अपना एक छोटा-सा घर बसाया बल्कि फिर सारे भारत को अपना घर मान लिया। उन्होंने जो संस्थाएं खड़ी कीं, जिन संस्थाओं का काम संभाला, उन्हें पहले से अधिक चमका कर समाज को वापस सौंपा था। ऐसे बेदाग श्री जाकिर हुसैन के कुछ आत्मीय प्रसंग बता रही हैं उनकी बेटी सईदा खुर्शीद।

'सारा भारत मेरा घर है और उसमें रहने वाले मेरा परिवार'– ये किसके मीठे बोल हैं, जो हमारे कानों में गूंज रहे हैं? यह बोलने वाला देश का सपूत और सचमुच भारत-रत्न था, मुल्क का राष्ट्रपति था पर अपने को देश का सेवक समझता था। आज हमसे उन्हीं की जीवन कहानी सुनिए।

आप कहानी सुनाने वाले के विषय में भी कुछ जान लें। कुदरत के खेल निराले हैं, जिसे चाहे जो बना दे। मेरी खुशकिस्मती है कि मुझको उसने उस महान स्नेहमय बाप की बेटी बनने का गौरव प्रदान किया। उनकी जिंदगी में अमीरी और गरीबी के दिन आए। वे अध्यापक के पद से लेकर देश के बड़े-बड़े पदों पर रहे और अंत में देश की सबसे बड़ी इज्जत का ताज उनके सिर पर रखा गया। मगर मेरे लिए वे हर जमाने और हर क्षण एक स्नेहमय मिसाली बाप और एक बेहतरीन इनसान रहे। बचपन से हमेशा मैंने उन्हें मियां कहकर पुकारा है। अब आप एक खुशनसीब बेटी से उसके बाप की कहानी सुनिए।

उत्तर प्रदेश में एक जिला है फर्रुखाबाद। यह मुगल बादशाह फर्रुखसियर के जमाने में बसाया गया था। यह जगह छपाई की कला के लिए बहुत प्रसिद्ध है। यहां के छपे हुए लिहाफ, अबरे और रजाइयां न केवल अपने देश में लोकप्रिय हैं बल्कि यहां की छपी हुई चीजें देश के बाहर भी पसंद की जाती हैं। इस फर्रुखाबाद में एक कस्बा है कायमगंज। हमारी कहानी यहीं से शुरू होती है, यही हमारा पुराना वतन है।

फर्रुखसियर का जमाना था। बादशाह उनसे बहुत खुश था। उसने उन्हें बहुत-सा पुरस्कार और बड़ी जागीर दी, साथ ही नवाब की पदवी भी। दिल्ली में बंगश का पुल और बंगश का कमरा उन्हीं के नाम से है। बंगश के कमरे की चर्चा तो गालिब के सिलसिले में भी हुई है।

यह पठानों की पुरानी बस्ती है। इसका नाम इस तरह पड़ा कि पुराने जमाने में भारत और अफगानिस्तान की सीमा से पठानों के काफिले, समय-समय पर भारत में रोजगार की तलाश में आते रहे और अधिकतर फर्रुखाबाद के आसपास के इलाकों में आबाद हुए। उस समय के राजा ने उनकी हिम्मत बढ़ाई और सहायता भी दी। उन्हें रहने और खेती करने के लिए जमीन और सेना में नौकरियां मिलीं। इस तरह अनेक सालों तक ये लोग यहां रहे।

उन्हीं में से एक मोहम्मद खां बंगश हुए हैं। वे बड़े वीर, प्रतिभाशाली और होनहार आदमी थे। यह फर्रुखसियर का जमाना था। बादशाह उनसे बहुत खुश था। उसने उन्हें बहुत-सा पुरस्कार और बड़ी जागीर दी, साथ ही नवाब की पदवी भी। दिल्ली में बंगश का पुल और बंगश का कमरा उन्हीं के नाम से है। बंगश के कमरे की चर्चा तो गालिब के सिलसिले में भी हुई है।

यह मोहम्मद खां बंगश खास इसी जगह के रहने वाले थे, जहां अब कायमगंज आबाद है। कहते हैं कि इस जगह का नाम उन्होंने अपने बेटे कायम खां के नाम पर रखा था। कायमगंज 1713 ईस्वी में बसाया गया। उसके बाद भी पठानों के आगमन का सिलसिला चलता रहा। वे यहां आकर आबाद होते रहे। उन्हीं में खैबर और कोहार से आफरीदी पठान आकर यहां बस गए, जिनकी नस्ल अब तक कायमगंज में पाई जाती है। वे लोग बड़े खूबसूरत सुर्ख-सफेद, लंबे-तगड़े और बहादुर थे। पिछले पठानों की तरह तत्कालीन सरकार ने इन्हें भी आबाद होने के लिए सुविधाएं दीं। उन लोगों ने अपने कबीलों के नाम पर कायमगंज में अपने मोहल्ले आबाद किए। उदाहरण के लिए, कलां खैल, शकुल खैल, मवल खैल, कौकी खैल, हसन खैल आदि। खैल पश्तों में कबीले को कहते हैं।

इन कबीलों में से शकुल खैल कबीले में दो भाई थे– हसन खां और हुसैन खां। हुसैन खां हमारे पूर्वज थे। यह मोहम्मद शाह के जमाने में सन् 1719 ईस्वी में भारत आए। हुसैन खां बहुत खूबसूरत, गंभीर, सूफी मनुष्य थे। पढ़ना-पढ़ाना उनका शौक था। पठानों में उनके असंख्य चेले थे। वे मदा खौन की उपाधि से पुकारे जाते थे। मदा खौन पश्तों में बड़े उस्ताद को कहते हैं।

मदा खौन के बेटे अहमद हुसैन खां, उनके बेटे मुहम्मद हुसैन खां हुए। मुहम्मद हुसैन खां के बेटे गुलाम हुसैन थे जो झुम्मन खां कहलाते थे। वे मियां के दादा थे। झुम्मन खां बड़े खरे, स्पष्ट वक्ता और न्यायप्रिय व्यक्ति थे। न किसी की ताकत से डरते थे, न किसी की धन-दौलत से प्रभावित होते। बहुत रहमदिल और स्नेही थे। हर एक की सहायता के लिए हर वक्त तैयार रहते और दूसरों की सहायता के लिए अपने को खतरे में डालने से भी नहीं चूकते थे।

झुम्मन खां के दो बेटे थे– फिदा हुसैन खां और अता हुसैन खां। अता हुसैन खां के कोई औलाद नहीं हुई। फिदा हुसैन खां मियां के बाप थे। उनका विवाह पठानों के एक इज्जतदार परिवार में नाजनीन बेगम के साथ हुआ। उनके सात लड़के हुए– मुजफ्फर, आबिद, जाकिर, जाहिद, यूसुफ, जाफर और महमूद। मियां अपने भाइयों में तीसरे नंबर पर थे।

झुम्मन खां के दो बेटे थे– फिदा हुसैन खां और अता हुसैन खां। अता हुसैन खां के कोई औलाद नहीं हुई। फिदा हुसैन खां मियां के बाप थे। उनका विवाह पठानों के एक इज्जतदार परिवार में नाजनीन बेगम के साथ हुआ। उनके सात लड़के हुए– मुजफ्फर, आबिद, जाकिर, जाहिद, यूसुफ, जाफर और महमूद। मियां अपने भाइयों में तीसरे नंबर पर थे।

मियां का जन्म 1897 ईस्वी में हैदराबाद के बेगम बाजार मोहल्ले में हुआ, जहां उनके पिता अर्थात् हमारे दादा की हवेली थी। कहते हैं, यद्यपि सब भाई सूरत और आदत में अनुपम थे तथापि मियां की हैसियत उन तारों के झुरमुट में पूर्णमासी के चन्द्रमा की सी थी।

फिदा हुसैन खां अर्थात् मियां के पिता बहुत प्रतिभाशाली और होनहार थे। शुरू से उनको पढ़ने-लिखने का बहुत शौक। बीस साल की आयु में रोजगार की तलाश में हैदराबाद गए। घर से कुछ रुपए ले गए थे, उससे मुरादाबादी बर्तनों की एक दुकान खोल ली और साथ ही साथ कानून की परीक्षा की तैयारी भी करते रहे। परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी में सफल हुए।

दुकान खत्म करके वकालत शुरू की। खुदा की करनी थी कि उनकी वकालत बहुत चमकी, बहुत रुपए कमाए। कानून पर बहुत-सी किताबें लिखीं।

बेगम बाजार में एक दो-मंजिला घर बनाया। भगवान ने बहुत कुछ दिया। धन-दौलत के साथ खूबसूरत, प्रतिभाशाली और होनहार संतान भी। एक-दो नहीं, पूरे सात बेटे। मगर जैसे उनकी फूलती-फलती बगिया को किसी की नजर लग गई। केवल 16 वर्ष ही वकालत कर पाए थे और अभी 39 वर्ष के ही थे कि क्षय रोग में फंस गए और सन् 1907 में खानदान का यह रौशन चिराग सदा के लिए बुझ गया।

अब मियां की शोकाकुल मां बच्चों को लेकर कायमगंज आ गईं और मियां के चचा अता हुसैन खां के संरक्षण में रहने लगीं, किंतु दो साल के बाद उनका भी स्वर्गवास हो गया। पिता के स्वर्गवास के समय मियां की आयु केवल दस वर्ष थी।

मियां की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। कहते हैं कि बच्चे की सबसे पहली पाठशाला मां की गोद है। बच्चा जीवन का प्रारंभिक पाठ यहीं सीखता है। यहां वे सब बुनियादी आदतें पड़ चुकी होती हैं जिन पर आगे चलकर जीवन का पूरा भवन तैयार होता है। किसी मां की ममता के खजाने में प्यार की कमी नहीं होती। किंतु यदि उस प्यार में बुद्धि का समावेश न हो तो लाभ की बजाय वह हानिकारक हो जाता है।

मां ने चार बड़े बेटों को इटावा में दाखिला करवा दिया। इसी जमाने में कायमगंज में ताऊन (प्लेग) की ऐसी बीमारी फैली कि बस्तियां-की-बस्तियां बर्बाद हो गईं। इस बीमारी से उनका घर भी न बच पाया। पूरा घर बर्बाद। बीमारी का ऐसा जोर था कि जनाजा उठाने वाला नहीं मिलता था। घर में सबसे पहले मियां के छोटे भाई जाफर हुसैन खां उसका शिकार हुए। उसके बाद नानी, मां और सारे नौकर खत्म हो गए और घर में ताला पड़ गया। सबसे छोटे भाई महमूद हुसैन खां बचे थे जिनको उनकी चाची अपने घर ले गईं।

मां ने बच्चों की परेशानी के ख्याल से इटावा अपनी बीमारी की खबर नहीं भेजी। अचानक यह दिल हिला देने वाली खबर मिली। घर पहुंचे तो घर में ताला लगा देखा। मासूम दिलों पर कयामत गुजर गई। अब खुदा के सिवा इन अनाथों का कोई सहारा न था। और वास्तव में उसी ने सहारा दिया। मां-बाप जैसा अमूल्य धन छीनकर उनमें धैर्य, साहस और करुणा की भावना पैदा कर दी, जिसने उनके समस्त अभावों की पूर्ति की। उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी। लालन-पालन के लिए उनके संरक्षक बनाए गए जो उनकी संपत्ति की देखभाल और उनकी शिक्षा का प्रबंध करते थे।

लेकिन कठिनाइयां अभी समाप्त नहीं हुई थीं। संभवतः यह अल्लाह मियां की तरफ से मियां के प्रशिक्षण का प्रबंध था। खुदा को उनसे जो काम लेने थे,

वे आसान न थे। वह एक कड़ी जिंदगी थी, जिसके लिए उनके व्यक्तित्व को दृढ़ और साहसी बनाना उद्देश्य था। खुदा-खुदा करके वह वक्त आया कि बड़े भाई मुजफ्फर हुसैन खां अपनी शिक्षा पूरी कर हैदराबाद में विशेष न्यायाधीश हो गए; किंतु प्रकाश की एक किरण के बाद फिर अंधेरा। 27 वर्ष की आयु में उन्हें क्षय रोग हो गया और वे भी चल बसे।

मियां की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। कहते हैं कि बच्चे की सबसे पहली पाठशाला मां की गोद है। बच्चा जीवन का प्रारंभिक पाठ यहीं सीखता है। यहां वे सब बुनियादी आदतें पड़ चुकी होती हैं जिन पर आगे चलकर जीवन का पूरा भवन तैयार होता है। किसी मां की ममता के खजाने में प्यार की कमी नहीं होती। किंतु यदि उस प्यार में बुद्धि का समावेश न हो तो लाभ की बजाय वह हानिकारक हो जाता है। लेकिन यदि मां में प्यार के साथ-साथ अक्ल भी हो तो वह बच्चों में बड़ी आसानी से ऐसे गुण पैदा कर देती है, जो एक अच्छे इनसान के लिए जरूरी होते हैं। बच्चे के लिए मां ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व है कि उसकी हर क्रिया और अदा बच्चे के मस्तिष्क पर छाप छोड़ देती है और वह उसी सांचे में ढल जाता है।

मां ने चार बड़े बेटों को इटावा में दाखिला करवा दिया। इसी जमाने में कायमगंज में ताऊन (प्लेग) की ऐसी बीमारी फैली कि बस्तियां-की-बस्तियां बर्बाद हो गईं। इस बीमारी से उनका घर भी न बच पाया। पूरा घर बर्बाद। बीमारी का ऐसा जोर था कि जनाजा उठाने वाला नहीं मिलता था।

मियां की मां बहुत समझदार और नेकदिल औरत थीं। उनकी दान और सहानुभूति की चर्चा अब भी कायमगंज की बड़ी-बूढ़ियां करती हैं। मियां भी प्रायः उनकी चर्चा बड़ी मोहब्बत से करते थे और उनके मरने की घटना का हाल सुनाते थे तो उनका दिल भर आता था और आंखों में आंसू आ जाते थे। वे अपने बच्चों से अगाध प्रेम करती थीं। उनके सात लड़के थे। कोई उनसे संख्या पूछता तो प्रायः टाल जातीं कि कहीं इन हीरों को नजर न लग जाए। उनके जीवन में केवल एक बच्चे की मृत्यु हुई थी, जिसकी आयु छह वर्ष थी। यह घटना उनके लिए बहुत घातक थी। यह भी उन पर खुदा की कृपा थी कि एक के बाद एक तीन हट्टे-कट्टे जवानों को और अपने दिल के टुकड़ों को अपनी आंख से मिट्टी में मिलते नहीं देखा।

वे हमेशा लोगों को देती रहती थीं। कोई उनके दर से खाली हाथ न जाता और देना भी ऐसा कि इस हाथ से दिया, उस हाथ को खबर न हुई। जिससे

मिलतीं बड़ा आदर-सत्कार करतीं, चाहे वह किसी भी हैसियत का आदमी हो। हरेक से बराबर का सलूक करतीं। बुजुर्गों का आदर और मान उनकी घुट्टी में पड़ा हुआ था। रख-रखाव ऐसा कि अपने-पराए सब खुश और उनका दम भरते थे। इन विशेषताओं के साथ उन्होंने अपने बच्चों की जैसी शिक्षा-दीक्षा की होगी, उसका अनुमान कठिन नहीं। उनकी मोहब्बत नादान औरतों की तरह अंधी न थी। वह अपने बच्चों के भविष्य के प्रति सावधान थीं। वे जानती थीं कि कायमगंज में उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबंध होना कठिन है, इसलिए उन्होंने अपनी आंखों के तारों को नजरों से दूर भेजना स्वीकार कर लिया और जब उन पर प्लेग का आक्रमण हुआ तो बच्चों की परेशानी और उनकी शिक्षा में रुकावट के खयाल से अपनी बीमारी की सूचना तक न दी और बच्चों को अंतिम बार देखने की इच्छा अपने दिल में लिए हुए इस दुनिया से विदा हो गईं।

उनका ऐसा ही एक भाषण उनकी शादी का कारण बना। उस जमाने में चंदा इकट्ठा करने के लिए कायमगंज में भी एक भाषण दिया जिसमें हमारी मां के दादा भी उपस्थित थे। उन पर भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपना बटुआ मियां की टोपी में उलट दिया, साथ ही यह भी दिल में तय किया कि अपनी लाडली पोती का विवाह इसी लड़के से करेंगे।

सन् 1907 ईस्वी में मियां इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल में दाखिल हुए। सौभाग्य से वहां उन्हें बहुत अच्छे और स्नेही शिक्षक मिले, विशेष रूप से इटावा स्कूल के हैडमास्टर सैयद अल्ताफ हुसैन साहब और स्कूल के संस्थापक मौलवी बशीरुद्दीन साहब बड़ा स्नेह करते और ध्यान देते। इन दोनों बुजुर्गों का मियां पर बहुत गहरा असर था। उन्होंने उनसे बहुत कुछ सीखा और वे उनकी हमेशा बड़े सम्मान से चर्चा करते।

इटावा के विद्यार्थी जीवन की एक घटना मियां खुद सुनाते थे, जिससे पता चलता है कि उनके शिक्षकों को उनका कितना ध्यान रहता था। एक दिन मास्टर अल्ताफ हुसैन साहब ने मियां और उनके साथियों के खाने में एक-एक गिलास पानी मिला दिया। खाने का वक्त आया तो सब साथी एक-एक कौर लेकर खिसियाकर उठ खड़े हुए, लेकिन मियां ने निहायत सहजता से अपना खाना पूरा किया और इस तरह उठे जैसे बहुत मजेदार खाना खाया हो! अल्ताफ हुसैन साहब ओट से यह सब तमाशा देख रहे थे, सामने आए और मियां के सिर पर बड़े स्नेह से हाथ फेरा और कहा कि मैंने तुम लोगों की परीक्षा के लिए जान-बूझकर खाने को बे-मजा करने के लिए पानी मिला दिया था। मैं जानना चाहता था कि तुममें से कौन स्वाद के आनंद का बलिदान कर सकता है। मेरा

ख्याल था कि जाकिर, तुम ही सफल होगे। मुझे खुशी है कि मेरा विचार बिलकुल ठीक निकला।

स्कूल के जीवन में मियां विद्यार्थियों और शिक्षकों दोनों में बहुत लोकप्रिय थे। पढ़ने-लिखने का उन्हें आरंभ से ही शौक था। वे अपने अध्ययन को केवल पाठ्य-पुस्तकों तक सीमित नहीं रखते थे, बल्कि इसके अतिरिक्त ज्यादा-से-ज्यादा पढ़ते रहते। उन्हें अखबार पढ़ने और खबरें सुनाने का भी बहुत शौक था। इटावा में स्कूल के उनके साथी हबीबुर्रहमान साहब लिखते हैंः 'वे पायनियर अखबार खरीदने प्रतिदिन इटावा स्टेशन जाते। आगे वे होते और पीछे मैं। स्टेशन पर अखबार उतरते ही जाकिर साहब उसे हासिल करते और फिर हम लगभग भागते-भागते स्कूल के बोर्डिंग हाउस में लौट आते। वहां विद्यार्थी हमारी प्रतीक्षा करते मिलते। हमारे लौटते ही वे हमारे चारों तरफ घेरा बना लेते। जाकिर साहब उन्हें खबरों का न केवल अनुवाद करके सुनाते बल्कि उनकी समीक्षा भी करते।'

उनका भाषण और लेखन केवल दिखावा नहीं था, बल्कि वे जो कहते थे और जो लिखते थे, उसका खुद भी पालन करते थे। प्रारंभ ही में उन्होंने अपने व्यक्तित्व का एक काल्पनिक चित्र बनाया था, जिस पर हर समय उनकी दृष्टि रहती। इटावा स्कूल में उन्होंने एक लेख लिखा था। उस समय उनकी आयु तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी। उस लेख का शीर्षक थाः 'विद्यार्थी-जीवन।' उस लेख से ज्ञात होता है कि उनके सामने जीवन का क्या स्वरूप था।

खुदा ने बचपन से ही मियां को लेखन और भाषण पर पूर्ण अधिकार दिया था। जो बात वे कहते थे, ऐसे सलीके से कहते थे कि सुनने वाले के दिल में उतर जाती थी। उस जमाने में तुर्की और इटली में युद्ध हो रहा था। सामान्यतः हिंदुस्तान के मुसलमानों में तुर्की के प्रति सहानुभूति का बहुत जोश था। मियां भी उसमें बहुत आगे रहे। उनके आह्वान पर लोगों ने गोश्त खाना बंद कर दिया था ताकि जो रुपए बचें, उनसे तुर्कों की सहायता की जाए। वे इस सिलसिले में जगह-जगह भाषण भी देते थे और चंदा जमा करते थे।

उनका ऐसा ही एक भाषण उनकी शादी का कारण बना। उस जमाने में चंदा इकट्ठा करने के लिए उन्होंने कायमगंज में भी एक भाषण दिया, जिसमें हमारी मां के दादा भी उपस्थित थे। उन पर भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपना बटुआ मियां की टोपी में उलट दिया, साथ ही यह भी दिल में तय किया कि अपनी लाडली पोती का विवाह वे इसी लड़के से करेंगे। उनकी मां का देहांत

हो चुका था। दादा की वह इकलौती पोती थीं। उनके और सब बच्चे खत्म हो चुके थे इसलिए दादा उन्हें बहुत चाहते थे। वे उनकी आंखों का तारा थीं। वे उन्हें प्यार में पुतली कहा करते थे। वैसे हमारी मां का नाम शाहजहां बेगम है। मियां हमारी मां के दादा के सगे भाई के नाती थे। भाषण सुनकर घर आए तो उन्होंने मियां की मां अर्थात् अपनी भतीजी को बुलाया और कहा मैं जाकिर से अपनी पोती का विवाह करना चाहता हूं। हमारी दादी अर्थात मियां की मां यह प्रस्ताव सुनकर बहुत खुश हुईं। वे तो खुद चाहती थीं, लेकिन चचा के सम्मान के कारण अभी तक जुबान न खोली थी। अब उन्हें क्या आपत्ति हो सकती थी, किंतु दोनों की तकदीर में यह खुशी देखनी नहीं लिखी थी। थोड़े ही दिनों में दोनों का स्वर्गवास हो गया और यह शादी मियां के बड़े भाई और अम्मा की मां ने की।

जिस तरह मियां के भाषण में जादू था, उसी तरह उनका लेखन भी जादू का असर रखता था। उनका भाषण और लेखन केवल दिखावा नहीं था, बल्कि वे जो कहते थे और जो लिखते थे, उसका खुद भी पालन करते थे। प्रारंभ ही में उन्होंने अपने व्यक्तित्व का एक काल्पनिक चित्र बनाया था, जिस पर हर समय उनकी दृष्टि रहती। इटावा स्कूल में उन्होंने एक लेख लिखा था। उस समय उनकी आयु तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी। उस लेख का शीर्षक थाः 'विद्यार्थी-जीवन।' उस लेख से ज्ञात होता है कि उनके सामने जीवन का क्या स्वरूप था।

वे लिखते हैं : "विद्यार्थी से आशय वह व्यक्ति है जो अपने स्वभाव को वर्तमान स्थिति से बेहतर बनाना चाहता है। जो अपनी शक्ति को, जहां तक बढ़ने की उसमें ताकत है, वहां तक बढ़ाना चाहता है... इस बात का इच्छुक है कि जहां से अक्ल का सबक मिले, जहां से अच्छी-अच्छी बातें उसको मालूम हों, जहां से ज्ञान और उच्च विचार उसको मिल सकें, जहां से उस दुनिया के विषय में और अपने विषय में ऐसी बातें मालूम हों जो उसे नहीं मालूम और जिनको मालूम करने से उसको दुनिया में सहायता मिलेगी, वहां से वह उन सबको प्राप्त कर ले। विद्यार्थी होने के लिए कम-से-कम इतनी बुद्धि जरूर होनी चाहिए कि वह बुरे और भले में, लाभ और हानि में, पसंद करने योग्य और घृणा करने योग्य बातों में अंतर कर सके।"

इस आयु में एक व्यक्ति ने मियां में आध्यात्मिकता की ज्योति जगाई और उनमें सूफी संतों जैसे गुण उत्पन्न किए। वे थे हसन शाह साहब। हसन शाह मियां के दूर के संबंधी थे। वे एक सूफी बुजुर्ग थे और शाह तालिब हुसैन फरुर्खाबादी के चेले थे। हसन शाह को प्रारंभ से ही मियां के व्यक्तित्व में विशेष रुचि रही। जब मियां छुट्टियों में घर आते तो वे अधिकतर उन्हें

अपने साथ रखते। हसन शाह को अध्ययन का बहुत शौक था। इतनी आय न थी कि किताबें खरीद सकें। इसलिए वे करते यह थे कि जहां भी अच्छी किताबें मिलतीं, ले आते और उनकी नकल कराकर अपने पास रखते। ये किताबें ज्यादातर सूफी मत पर होतीं और इसके अतिरिक्त रसायनशास्त्र और दूसरे शास्त्रों पर भी होतीं। वे इन किताबों की नकल मियां से कराया करते थे और जहां-तहां मुश्किल पाते, समझाते भी रहते थे। मियां कहते थे कि इन किताबों की नकल करने से उन्हें बहुत लाभ हुआ। एक तो उनका लेख बहुत अच्छा हो गया; दूसरे, विभिन्न विषयों में उनका ज्ञान बढ़ गया। रसायन के बहुत-से नुस्खे उन्हें जुबानी याद हो गए। मियां बताते थे कि बाद में वे नुस्खे बहुत काम आए।

उनके एक दोस्त थे अताउल्ला साहब। वे साईंस के विद्यार्थी थे। उन्हें प्रयोग करने का बहुत शौक था। वे सोना बनाने का प्रयोग किया करते थे। सोना तो खैर क्या बनता था, अलबत्ता यह आराम हो गया था कि अताउल्ला साहब के कमरे में हर समय अंगीठी दहकती रहती जिस पर सब मित्रगण जब चाहते, चाय बना लेते! यह अताउल्ला साहब उस वक्त तो सोना न बना सके किंतु आगे चलकर उनके इस शौक ने सोना प्राप्त करने के तरीके का आविष्कार कर लिया। वे अमेरिका चले गए। वहां भी वे इसी धुन में लगे रहे और एक दिन उन्होंने चावल चंद मिनट में तैयार करने की विधि खोज ली, जिससे उन्होंने काफी सारा धन कमाया और फिर उसे बहुत अच्छे कामों में लगाया।

यह बात पीर तालिब हुसैन साहब को मालूम हुई तो उन्होंने बुलाकर कहा कि हसन शाह, तुम्हारा दिल अभी पूरी तरह पाक और साफ नहीं हुआ। एक खुदा को मानने वाले के दिल में खुदा की सृष्टि से घृणा की गुंजाइश नहीं होती। इसका इलाज यह है कि तुम सिर पर चोटी और माथे पर तिलक लगाकर कश्मीर से कन्याकुमारी तक पैदल यात्रा करो ताकि ज्यादा-से-ज्यादा लोग तुम्हें इस हालत में देखें और तुम्हें शिक्षा मिले।

पीर हसन शाह से मियां को बड़ी श्रद्धा थी। वे प्रायः उनके किस्से सुनाया करते थे। पीर हसन शाह प्रारंभ में हिंदुओं से कुछ पक्षपात रखते थे और कभी-कभी उनके मुख से अनुचित शब्द भी निकल जाते थे। यद्यपि इस्लाम और हर धर्म इनसानों से मोहब्बत सिखाता है, किंतु होता यह है कि धर्म की असली आत्मा को समझे बगैर जब कोई अपने धर्म का पाबंद होता है, तो उतनी ही दूसरे धर्मों से घृणा करने लगता है और दूसरे धर्मों के मानने वालों को घृणा के योग्य समझता है। यही एक बारीक अंतर है धर्म के सच्चे

व्यक्ति में और एक दिखावटी, कट्टर धार्मिक व्यक्ति में। एक मान्यताओं और मूल्यों को मानता है, दूसरा बाहरी रीति-रिवाज को, जिसे वह धर्म का नाम दे देता है।

हां, तो जब हसन शाह के विषय में यह बात उनके पीर तालिब हुसैन साहब को मालूम हुई तो उन्होंने बुलाकर कहा कि हसन शाह, तुम्हारा दिल अभी पूरी तरह पाक और साफ नहीं हुआ। एक खुदा को मानने वाले के दिल में खुदा की सृष्टि से घृणा की गुंजाइश नहीं होती। इसका इलाज यह है कि तुम सिर पर चोटी और माथे पर तिलक लगाकर कश्मीर से कन्याकुमारी तक पैदल यात्रा करो ताकि ज्यादा-से-ज्यादा लोग तुम्हें इस हालत में देखें और तुम्हें शिक्षा मिले।

हसन शाह ने पीर की आज्ञा के आगे सिर झुका दिया और उनकी हिदायत के अनुसार यात्रा की। उसके बाद उन्हें पैदल चलने की इतनी आदत हो गई थी कि जब जी चाहता, कपड़ों और किताबों की एक गठरी ली और चल दिए। अंत में जब बहुत बूढ़े हो गए थे और चल नहीं पाते थे तो उन्होंने एक चार पहियों वाली गाड़ी बना ली थी, उस पर कपड़े और किताबें रखकर धकेलते हुए ले जाते थे।

मियां को सूफियों और बुजुर्गों से जो श्रद्धा हसन शाह के कारण प्राप्त हुई थी, वह जीवन भर बनी रही। उन्होंने बुजुर्गों की शिक्षा और जिंदगी के हालात से जो सबक सीखा, वह इनसान की मोहब्बत थी, जिसमें न धर्म-जाति का भेद था, न रंग और नस्ल का अंतर। हजरत निजामुद्दीन औलिया की दरगाह पर भाषण देते हुए उन्होंने इन्हीं विचारों को अभिव्यक्त किया: "ख्वाजा अजमेरी ने कहा है कि खुदा तक पहुंचने के लिए तीन चीजों की दरकार होती है। पहली चीज होती है नदी जैसी दानशीलता, दूसरी सूर्य जैसा स्नेह और तीसरा धरती जैसा अतिथि-सत्कार। कौन नहीं देखता और समझता कि नदी अपनी दानशीलता में, सूर्य अपने स्नेह में और धरती अपने सत्कार में जाति-पांति, धर्म-नस्ल और भाषा का भेद नहीं करते।" वे आगे कहते हैं : "दान, स्नेह और सत्कार के गुण होते हुए भी दीन और धर्म का अंतर लोगों के दिलों को एक दूसरे से अलग कर देता है। धर्म जोड़ने की जगह तोड़ने, मिलाने की जगह अलग करने लगता है।"

किंतु पवित्र इनसानों का यह हाल नहीं होता। होता भी कैसे, क्योंकि मियां आपका हृदय मानवता के प्रति सहानुभूति से परिपूर्ण था। आपकी शिक्षा और प्रवचनों की विशेषता आध्यात्मिक मूल्यों की सुरक्षा, सहानुभूति और मानव-प्रेम था।

राधाकृष्ण प्रकाशन से प्रकाशित
'जाकिर साहब की कहानी, उनकी बेटी की जुबानी' पुस्तक के कुछ संपादित अंश।

*

टिप्पणियाँ

यदि गांधीजी आज होते

यह सवाल नया नहीं है। शायद गांधीजी के जाते ही अगले दिन से पूछा जाने लगा होगा। सवाल नया नहीं क्योंकि हमारा स्वभाव पुराना ही है। स्वभाव न बदला हो तो परिस्थितियां कितनी भी बदल जाएं, हम बदलते नहीं। इसलिए कहीं भी संकट में हम फंसे नहीं कि एकदम यही सवाल सामने आता हैः यदि गांधीजी होते तो क्या करते।

कभी किसी ने सोचा होगा कि सन् 1869 के अक्तूबर से पहले लोगों के सामने यह प्रश्न था क्या? तब तो गांधीजी का जन्म भी नहीं हुआ था। फिर अक्तूबर के दिन उस साल गांधीजी ने जन्म लिया। धीरे-धीरे पले-बढ़े, सब सामान्य बच्चों की तरह। फिर स्कूल-कॉलेज में कुछ पढ़े-लिखे, सब सामान्य युवकों की तरह। न जाने कब सब कुछ सामान्य-सा दिखने वाला एकदम असामान्य, असाधारण बन गया। फिर तो पूरे जीवन भर इस देश में ही नहीं, पूरी दुनिया में उनकी उपस्थिति इस कदर बनी रही, ऐसी ऊंची बनी रही कि बाकी सब बौने से हो गए थे। यह ऊंचाई उनके व्यक्तित्व में थी, उनके कामों में थी, उनके विचारों में थी।

उनके जाने के बाद जैसे अंधेरा-सा छा गया। सूरज के जाने के बाद भी अंधेरा आता है। लेकिन सूरज अगले दिन फिर ऊग जाता है। थोड़े बहुत बादल हों, कोहरा हो, रेतीली या धूल भरी आंधी हो तब भी सूरज आ गया है– ऐसा भरोसा मन में रहता है। पर गांधीजी गए तो ऐसा नहीं हुआ। उन्हें अगली सुबह नहीं आना था।

आते भी भला क्यों। हमें उनकी जरूरत थी– सिर्फ इसलिए क्या? ये हम भी कौन? कहां-कहां नहीं होंगे हम जैसे हम! हमारे निकम्मेपन की ढाल है यह सर्वनाम 'हम'। यह निकम्मापन सब जगह कम ज्यादा मिलता है। मिलता ही चला जाता है। बढ़ता ही चला जाता है और इसलिए कोई संकट आया नहीं कि हमें लगता है कि अच्छा होता आज गांधीजी हमारे बीच होते। वे होते तो हमारे बदले हम उनको इस संकट में झोंक देते। यह भी अटूट भरोसा हमें है कि यदि वे होते तो हम क्या उन्हें झोंकते, वे खुद ही अपने को निछावर करने हाथ के काम छोड़ उस संकट की घड़ी के सामने होते।

ऐसा निकम्मापन हमें कहीं का नहीं छोड़ेगा। हम कभी-भी अपनी

समस्याओं से निपट नहीं पाएंगे। समस्याएं कब नहीं होतीं? दस-पांच हजार बरस का इतिहास खंगाल लें। खगोल-भूगोल सब देख डालें। बिलकुल निरापद कोई भी समय नहीं रहा है। प्राकृतिक आपदाएं, राजनैतिक आपदाएं, सामाजिक आपदाएं और तो और घर-घर की आपदाएं– भगवान राम के राजतिलक के पुण्य क्षण में भी कैकेयी कोप भवन में चली गई हैं। समस्याएं बराबर आएंगी। अच्छे कामों को, अच्छे विचारों को राजाज्ञा से, भले ही मजबूरी में, बनवास मिलता रह सकता है।

और ऐसे में ही धीरज, संयम, दृढ़ता और मर्यादा को ध्यान में रख हमसे जितना बने उतना तो करें हम। जो हमसे अभी नहीं बन सकता, उसकी कोशिश अभी नहीं भी करें तो ज्यादा अच्छा। आज का एक ठीक कदम पर्याप्त है, कल की शक्ति वही देगा– ऐसी प्रार्थना मन में तो करें।

आज गांधीजी होते तो क्या करते? वे जब थे– और वे काफी लंबे समय तक रहे– तब उन्होंने हर तरह की परिस्थिति में हमेशा ही कुछ न कुछ करके दिखाया था। वे सब उदाहरण हमारे-आपके सामने हैं। वे संघर्ष से लेकर रचना तक के, निर्माण के, नवनिर्माण के कामों में, हर असंभव-सी दिखने वाली परिस्थिति में अपार संभावनाएं तलाश लेते थे। कभी चुटकी भर नमक से वे ब्रितानी राज को हिला देते थे, कभी मुट्ठी भर कपास से अंग्रेजों की सूती मिलों को ठप्प कर देते थे तो कभी नील के गट्ठर से अन्याय से रंगे यूरोप के बाजार को सफेद झक्क, उज्ज्वल बना देते थे।

जब तक वे रहे, उन्होंने यहां इतना कुछ किया जितना एक व्यक्ति कभी नहीं कर सकता। दाएं हाथ से किया, दायां हाथ थका तो बाएं हाथ से किया। तन से किया, मन से किया और अंत में अपने प्राण तक से किया।

वे तो इस धरती के लिए इतना कुछ कर गए। अमर हो गए। अब हम मर-मर कर जीएं और अपने हर संकट में उन्हें याद करें, सोचें कि आज यदि वे होते तो क्या करते– यह बिलकुल ठीक नहीं है।

आज वे नहीं हैं। हम और आप हैं। हमसे जितना बने, उतना तो करें। गुरुदेव की एक छोटी-सी कविता न भूलें :

सांध्य रवि ने कहा/मेरा काम लेगा कौन/रह गया सुनकर जगत सारा निरुत्तर मौन। एक माटी के दीए ने/नम्रता के साथ/कहा जितना बन सकेगा/मैं करूंगा नाथ।

अनुपम मिश्र

*

पवन ऊर्जाः हवा निकली

पिछले वर्ष के मुकाबले इस वित्तीय वर्ष में पवन ऊर्जा के क्षेत्र में धीमी वृद्धि दर्ज की गई है। इस वर्ष पवन ऊर्जा का उत्पादन कोई 100 मेगावाट पीछे रह गया है। तमिलनाडु और राजस्थान में, जहां सर्वाधिक पवन ऊर्जा का उत्पादन होता है, वहां क्षमता संवर्द्धन आधा ही रह गया है। फिर भी केंद्रीय नवीन और नवीकृत ऊर्जा मंत्रालय इन आंकड़ों से संतुष्ट है। उसका कहना है कि समय के साथ क्षमता में सुधार हो जाएगा।

इस वर्ष कुल 291.7 मेगावाट क्षमता वृद्धि हुई। इसकी तुलना में पिछले वर्ष यह वृद्धि 394.7 मेगावाट थी। भारतीय पवन ऊर्जा एसोसिएशन के मुख्य कार्यकारी अधिकारी वी. सुब्रमण्यम का कहना है कि इस वर्ष कुल 1200 मेगावाट से अधिक क्षमता स्थापित हो पाने की संभावना नहीं है।

पवन ऊर्जा उद्योग पिछले काफी समय से इस अशुभ या डरावनी स्थिति के बारे में अपनी चिंता से अवगत कराता रहा है। इसी वजह से मंत्रालय ने एक अगस्त को एक सभा का आयोजन किया था। उद्योग ने इसमें क्षमता में, वृद्धि में गिरावट के कई कारण गिनाए थे। इनमें प्रमुख तो है सरकार द्वारा पवन ऊर्जा उत्पादन में दी जाने वाली प्रोत्साहन सहायता।

नवीन एवं नवीकृत ऊर्जा मंत्रालय ने यह योजना सन् 2009 में प्रारंभ की थी। इसमें पवन चक्की से ग्रिड को दी जाने वाली विद्युत की प्रत्येक यूनिट पर 50 पैसे का भुगतान होना था। यह माना जाता है कि बांध और कोयले से बनने वाली बिजली के मुकाबले यह पवन ऊर्जा ज्यादा साफ सुथरी है। इसलिए इसे बनाने वाले को कुछ और भी लाभ मिलना चाहिए। यह सोच कर उसमें कई तरह की छूट भी दी गई।

अब इन सब छूटों की अवधि मार्च 2012 में समाप्त हो गई है। इसे पुनः प्रारंभ नहीं किया गया। मंत्रलय के अधिकारी का कहना है कि इन कटौतियों की वजह से इस क्षेत्र में पवन चक्कियां लग रही थीं और 70 प्रतिशत ऊर्जा संवर्द्धन भी इसी योजना के माध्यम से हो रहा था। लेकिन लगता है कि पवन ऊर्जा बनाने से होने वाले लाभ के लालच में लोग आए और उन्होंने घटिया गुणवत्ता

वाली पवन चक्कियां स्थापित कीं और इसी वजह से हमें देश के बेहतरीन पवन ऊर्जा स्थलों से भी हाथ धोना पड़ा। अच्छी जगहें घिर गईं। उत्पादकों ने लाभ कमा लिया और बिजली जैसी और जितनी बननी चाहिए थी, वैसी बन नहीं पाई।

स्थापित क्षमता में कमी के अन्य कारण अलग-अलग राज्यों की परिस्थितियों पर भी निर्भर हैं। तमिलनाडु में राज्य के स्वामित्व वाली इकाई ने पवन ऊर्जा उत्पादकों को पिछले एक वर्ष से भुगतान नहीं किया है। बकाया राशि इस वर्ष दी जा रही है। तमिलनाडु बिजली विभाग के वित्त निदेशक जी. राजगोपाल का कहना है कि कुल 1500 करोड़ रुपए के बकाया में से 700 करोड़ रुपए दिए गए हैं। राजस्थान में भी भुगतान में देरी हो रही है क्योंकि वहां भी राज्य स्वामित्व वाली इकाई पर पैंतालिस हजार करोड़ का कर्जा है। उद्योग का कहना है कि इसी अनिश्चितता की वजह से बैंक भी पवन ऊर्जा परियोजनाओं को ऋण देने से हिचकिचा रही है।

लेकिन मंत्रालय इस स्थिति से कतई विचलित नहीं है। एक अधिकारी का कहना है 'हम यह स्वीकार करते हैं कि इस वर्ष का क्षमता संवर्द्धन पिछले वर्ष से कम होगा। लेकिन अब तरह-तरह की छूट बंद होने से केवल गंभीर प्रतिस्पर्धी ही इस क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। इस वर्ष की पहली तिमाही में भले ही 291.7 मेगावाट की ही वृद्धि हुई हो लेकिन हमें प्रसन्नता है कि केवल गंभीर उद्यमियों ने ही इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। उनका यह भी कहना था कि वर्ष 2010-11 की असाधारण क्षमता वृद्धि के पीछे का कारण यह था कि उस वर्ष मार्च में विभिन्न छूटों का समय समाप्त हो रहा था, इसलिए उद्योग में पवन चक्कियां स्थापित करने की होड़ मच गई। गंभीर उद्यमियों को प्रोत्साहित करने के लिए हम शीघ्र ही कुछ और तरह की विशेष छूट देंगे। मंत्रालय के सूत्रों का कहना है कि पवन बिजली बनाने वालों के पास ग्रिड को आपूर्ति के लिए 150 मेगावाट क्षमता तैयार पड़ी है। लेकिन छूटों के पुनः प्रारंभ होने की रास्ता देख रहे हैं।

तब इसका अर्थ तो यह हुआ कि पर्यावरण के नाम पर पवन बिजली बनाना भी एक धंधे में बदल गया है।

अंकुर पालीवाल

*

पत्र

प्रथम पंक्ति के शीर्ष कवि, श्री भवानीप्रसाद मिश्र के शताब्दी वर्ष पर एक पारिवारिक संस्मरण, 'स्नेह भरी उंगली' (गांधी-मार्ग, मई-जून 2012) बड़ी उत्सुकता से पढ़ा। रेखांकित करते गया और फिर से पढ़ा। जिज्ञासाएं अर्जित कीं। सब कुछ इतना सहज, सरल, जस का तस चित्रण लगा, किंतु इतना निराभिमानी भी क्या होना कि बहुत कुछ अनकहा रह जाए। अस्तु, उम्मीद लगाए हूं कि उन पर एक पूरा खाका पाठकों के हक में आएगा।

बाकी, इस अंक में भी अन्य अंकों की तरह अतीत में छपी विषय वस्तुएं प्रमुख हैं। कुछ एक लेखों के अलावा। हो सकता है कि कुछ सधे हुए लेखक, पाठक ऐसा ही पढ़ना सुखकर मानते हों, किंतु मौजूदा हालातों, उभरते विषयों पर गांधीवादी दृष्टिकोण संबंधी नव-चिंतन, विचार-सृजन, नव-लेखन, पाठकों का विस्तार– यह सब भी क्या जरूरी नहीं है? पाठकों को अतीतजीवी क्यों बनाएं। मौजूदा नैतिक पतन, सांस्कृतिक क्षरण, पर्यावरण का क्षय, सामाजिक-आर्थिक संकट आदि के समाधान हेतु गांधीवादी विद्वानों के विचारों को पाठकों के समक्ष लाना समय की गहन जरूरत है।

रामचन्द्र मिश्र,
बी.1001, स्काईलाइन विला,
सामने आई.आई.टी. मेन गेट, मुंबई-400076

*

एक मित्र के हाथ से गांधी-मार्ग का पुराना अंक मिला सितंबर 2010 वाला। ऐसी पत्रिका भी छपती है– पता नहीं था, सोचा भी नहीं था। उसे संभाल कर रखा और फिर दो-चार बार पढ़ गया। फिर दूसरे मित्रों को भी दिखाया। जो पढ़ नहीं सकते थे, उन्हें खुद पढ़ कर सुनाया।

गैस त्रासदी पर इस अंक में छपा लेख 'भोपालः मृत्यु की नदी की कुछ बूंदें' पढ़ कर वह सारा भयानक दृश्य आंखों के सामने घूमने लगा था। कुछ बूंदें नहीं, दुख का सागर उंडेल दिया था पाठकों पर। लेख पढ़ते-पढ़ते कई बार आंखें पोछनी पड़ती थीं।

यह अंक पुराना ही था, पर मेरे लिए एक नया अंक, एक नया अनुभव था। अब तो नियमित यह मिलता रहे ऐसा प्रबंध करूंगा। साथ ही कुछ पुराने अंक भी मिल जाएं तो अच्छा।

पंडित मिश्रीलाल शर्मा,
हिन्द मॉर्बल, जलबेड़ा रोड,
अंबाला शहर-134003 हरियाणा।

*

सितंबर-अक्तूबर का अंक मिला। पहले के अंकों की तरह यह अंक भी अद्‌भुत तथा बेमिसाल है। हर अंक विचारणीय तथा संग्रहणीय। गांधी के विचारों, मूल्यों तथा जीवन-दर्शन की मंजूषा है यह पत्रिका। पठनीय, मननीय तथा अनुकरणीय है। आज के इस दौर में जब वैश्वीकरण तथा बाजारीकरण के कारण पत्रिका निकालना तथा उसे चलाए रखना बेहद मुश्किल ही नहीं, करीब-करीब नामुमकिन-सा होता जा रहा है, गांधी-मार्ग को इतनी बेहतरीन सामग्री के साथ बिलकुल समय पर निकालने का यह कार्य सर्वप्रकारेण स्तुत्य तथा वंदनीय है। सभी लेखों के बारे में लिखूं तो कई पृष्ठ हो जाएं। इसलिए बस इस बार के 'पुराना चावल' के अंतर्गत प्रो. कृष्ण कुमार के 'चार हजार रिक्त पद' पर ही दो शब्द कहना चाहता हूं। मैं भी स्वयं शिक्षा से जुड़ा हूं तथा कृष्ण कुमार जी को करीब 15 बरसों से खूब पढ़ता रहा हूं।

प्रख्यात शिक्षाशास्त्री, चिंतक, विचारक तथा सुप्रसिद्ध लेखक श्री कृष्ण कुमार ने हिंदी में गंभीर पत्रिकाओं के पठन-पाठन तथा प्रकाशन के मुद्‌दों पर बहुत ही सटीक, सारगर्भित तथा मार्मिक टिप्पणी की है। उन्होंने जो कहा है वह

आज का कटु यथार्थ है। अगर कोई इससे इत्तेफाक नहीं रखता तो कहना न होगा कि शायद वह हकीकत से ही अनजान है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'राज, समाज और शिक्षा' में कृष्ण कुमार जी ने एक जगह कहा है कि समूची हिंदी पट्टी में शिक्षा का पतन राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के पतन के साथ हुआ है। हिंदी प्रदेशों में पत्र-पत्रिकाओं के पठन-पाठन तथा प्रकाशन के ह्रास को इस पतन की पृष्ठभूमि में ही देखा जाना चाहिए। इस देश में 40 करोड़ लोगों की मातृभाषा हिंदी है। लेखक के सुझावानुसार महज चार हजार लोग चाहें तो इस नैराश्यपूर्ण परिदृश्य को बदल सकते हैं। यानी हमें औसतन एक लाख में एक व्यक्ति, एक लक्षांश की जरूरत है जो हिंदी के काम में खुद को समर्पित कर दे। लेकिन क्या यह हो पाएगा?

मैं कभी-कभी मुंबई की साहित्यिक गोष्ठियों में जाता हूं। यहां के लेखक/रचयिता अब अपनी पुस्तकों की बस 300 प्रतियां छपवा रहे हैं। प्रकाशनोपरांत उस पर चर्चा/परिचर्चा हो जाती है। सामान्यतः 25-30 लोग कहीं जुट जाते हैं। समीक्षा के नाम पर 'स्तुतिगान' हो जाता है। कुल मिलाकर 'तेरी भी जै जै, मेरी भी जै जै'। हर गोष्ठी में तकरीबन वही चेहरे, और वही वक्तव्य। हर कोई अपने आप में महाकवि तथा महान लेखक का भ्रम पाले। आत्मविमुग्धता की पराकाष्ठा। यह हाल है हिंदी साहित्य के प्रकाशन और बिक्री का। सच में हिंदी का संकट बड़ा गहरा है। बिना समवेत प्रयास, समर्पण, त्याग तथा निष्ठा के फिलहाल तो हालात बदलने से रहे।

कृष्ण कुमार मिश्र, रीडर 'एफ'
होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान, वी.एन.पुरव मार्ग, मानखुर्द, मुंबई-400088

*

सितंबर-अक्तूबर के अंक में मनीष राजनकर जी का लेख 'जल का भंडारा' अच्छा लगा। इसके पीछे उत्तर भारत से आए कोहली समाज का योगदान भी बताया गया है। मैं इसे ठीक से समझ नहीं पाया। महाराष्ट्र में कोली नामक एक पुराना समाज जरूर था। वह तालाब का काम करता था। आज उनका प्रमुख काम मछली पकड़ना है। कुछ इस काम के व्यापारी भी बन गए हैं। महाराष्ट्र में मुंबादेवी की स्थापना इसी समाज ने की थी। फिर इसी मुंबादेवी से मुंबई, बंबई, बांबे और अब फिर मुंबई तक की यात्रा पूरी हुई है। मनीष जी को बधाई कि उन्होंने कोली समाज के इस योगदान से गांधी-मार्ग के पाठकों को परिचित कराया है।

श्री रमेश थानवी का 'कबीर का करघा और गांधी का चरखा' भी खूब अच्छा लगा। कबीर ने अपने दोहे से खादी को अमर कद दिया हैः

अष्ट कमल का चरखा बनया, पांच तत्व की पूनी।

नौ दस मास बनन को लागे, मूरख मैली कीनी।

गांधीजी को चरखा अनायास ही मिल गया था। फिर उन्होंने इसे स्वाभिमान और स्वराज का एक महत्त्वपूर्ण हथियार बना डाला। हथकते, हथबुने कपड़े का हमारा इतिहास ऋग्वेद तक जाता है। विवाह में वधू को चरखा भेंट किया जाता था। ऋग्वेद में कहा है कि ऐसा कपड़ा बुनो जिसमें गांठ न हो। ऐसा कपड़ा रंगो जिसमें धब्बा न हो। यह बात कपड़े से जीवन तक में उतारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

खुशाल सिंह कोली,
32, कीली खाना,
फतेहपुर सीकरी, आगरा, उ.प्र.

*

गांधी-मार्ग नियमित मिलता है। फिर भी मैं उसका बेसब्री से रास्ता देखता हूं। बेझिझक कहूं तो मैं जितनी भी पत्र-पत्रिकाएं लेता हूं, उनमें यह पत्रिका बिलकुल मोहित कर लेती है। हम इसके कुछ लेखों को उड़ीया भाषा में अनुवाद कर यहां की प्रमुख उड़ीया पत्रिकाओं में छापते भी हैं। पिछले अंकों में छपी मुहम्मद मंशा याद की डंगर बोली और रॉयन लोबो का जनरल बट नेकेड वाला लेख अनुदित हो चुका है।

किशोर मेहर,
डुंगरीपाली, जिला-सोनपुर, ओडिशा।

*

गांधी-मार्ग मिला। एक ही बैठक में पढ़ गया। आज लता अपने साथ स्कूल ले गई हैं

पढ़ने। मुंशी नवल किशोर जी के बारे में पढ़कर आश्चर्य हुआ कि पराधीन भारत में स्वराज के हर पहलू पर काम करने वाली ऐसी हस्तियां थीं। प्रेरणास्पद और रुचिकर जानकारी देने वाला ये लेख बहुप्रसारित होना चाहिए।

अशेष गुरु,
बी-9, गुजराती कॉलोनी,
चेरी ताल रोड,
बलदेव बाग, जबलपुर, म. प्र.

*

मेरे बचपन में नानाजी के घर 'गांधी-मार्ग' आता था और संस्थाकुल भी। अभी मैं वापस गांधी-मार्ग से जुड़ा हूं। बहुत अच्छा अंक निकालते हैं आप। सामग्री और कलेवर दोनों ही श्रेष्ठ हैं।

मैं यहां हिंदू कालेज में हिंदी पढ़ाता हूं। साथ ही 'बनास जन' नाम की एक साहित्यिक पत्रिका का संपादन भी करता हूं।

पल्लव,
pallavkidak@gmail.com

*

दर्जनों पत्र-पत्रिकाएं हमारे यहां प्रतिमाह आती हैं। ज्यादातर को उलट-पलट कर देखकर संतोष कर लेता हूं। कुछ विशेष लगे तो उसे आगे पढ़ने के लिए अलग रख लेता हूं। किंतु गांधी-मार्ग का अंक मिलते ही उसे समूचा पढ़ जाने से पहले छोड़ने का मन नहीं होता।

इस बार भी ऐसा ही हुआ। सितंबर-अक्तूबर के अंक में आचार्य कृपलानी के लेख और विनोबा पर छोटा-सा पर महत्त्वपूर्ण लेख सबसे पहले पढ़े। दोनों में कुछ नई जानकारी मिली। मित्र रमेश थानवी का लेख उनकी पत्रिका में पहले ही पढ़ चुका था। सबसे महत्त्व का लगा श्री कृष्ण कुमार का पुराना लेख, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। बहुत ज्यादा नहीं बदली है हिंदी पत्रिकाओं की हालत और हिंदी पाठकों की मानसिकता। राजकिशोरजी का यह आंकलन सही है कि चार हजार वार्षिक ग्राहक का संबल मिले तो विचार प्रधान पत्रिका बनी, टिकी रह सकती है। किंतु कमी तो इस चार हजार सुधी पाठकों के आगे आने की है। और यह भी सही है कि ये चार हजार पाठक कितनी वैचारिक पत्रिकाओं को टिका सकेंगे। उनके ग्राहक बन कर। लेकिन गंभीर पत्रिकाओं की आसन्न मृत्यु के लिए क्या सिर्फ इनकी बेरुखी ही उत्तरदायी है?

ऐसी पत्रिकाओं के बंद होने में और भी बहुत से कारण हैं। व्यावसायिक घरानों से निकलने वाले धर्मयुग या साप्ताहिक हिंदुस्तान क्यों बंद हो गए? ये प्रतिष्ठान चिकनी, चमकदार पत्रिकाओं और विज्ञापनों से लबरेज परिशिष्टों से अपना कोष भरते हैं, पर गंभीर पत्रिका या विचारात्मक सामग्री देने वाली पत्रिका के बारे में कुछ नहीं सोचते। काफी लंबे समय तक एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान की पत्रिका से जुड़ा होने के कारण इसके मूल में क्या है, मैं थोड़ा बहुत जान सका हूं।

'डंगर बोली' और 'स्नेह भरी उंगली' अभी तक बार-बार याद आ रहे हैं।

मनमोहन सरल,
76, पत्रकार, बांद्रा (पूर्व)
मुंबई, 400051

*

एक मित्र के घर पर गांधी-मार्ग देखा। उलटा-पलटा। लगा कि इनसे पूछ कर इसे घर ले जाएं। पढ़कर वापस कर दूंगा। घर जाकर फुरसत निकाल एक के बाद एक सब लेख पढ़ गया।

समस्याओं का ढेर सामने खड़ा है। महाभारत की तरह। अर्जुन मोह, विशाद, भ्रम और अज्ञान में डूबा खड़ा है। क्या करूं मैं। ऐसे में श्री कृष्ण उसे विराट दर्शन दिखाते हैं।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान देश की जनता भी ऐसी ही असहाय अवस्था में खड़ी थी। अंग्रेजों के इतने बड़े साम्राज्य से कैसे लड़ें। गांधीजी ने ठीक श्रीकृष्ण की तरह उसे उसकी आत्मा की शक्ति का विराट दर्शन करवाया। निहत्थी जनता में अदम्य साहस भर कर आत्मबल का अद्भुत शस्त्र सौंपा। परिणाम था भारतीय जनता की विजय और स्वतंत्रता की प्राप्ति।

आज खाड़ी के अनेक देशों में अपने तानाशाहों के विरुद्ध जो आंदोलन चल रहे हैं, उनमें भी अनेक आंदोलनों ने गांधीजी को अपनी प्रेरणा का स्रोत बताया है। हमारे अपने देश में

भी पिछले दौर में जो बड़े-बड़े जनआंदोलन हुए हैं, उनमें नैतिक और अहिंसा के अनुपात में ही परिणाम सामने आए हैं।

आज गांधीजी पहले से कहीं ज्यादा प्रासंगिक हैं।

डॉ. राजेन्द्र सिंह,
नई बस्ती, कटनी म. प्र.

*

बैंगन की छांव तले मेरे लेख (मार्च-अप्रैल 12) पर सितंबर-अक्तूबर के अंक में अकोला के सी वसंतराव केदार ने 'फार्मर फर्स्ट' पुस्तक के बारे में पूछा है। लंदन की इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंटल स्टडीज के तीन लेखकों इयान स्कूनेक्स, जॉर्ज थॉम्ससन और रॉबर्ट चेम्बर ने तीसरी दुनिया, विशेषकर भारत की खेती पर शोध किया था। उस किताब का नाम 'फार्मर फर्स्ट' है और अब वह पुनः नए रूप में प्रकाशित हुई है। जिसे farmerfirst@ids.ac.uk पर ऑर्डर देकर मंगाया जा सकता है।

अरुण डिके,
53-बी, प्रेमनगर,
इंदौर- 452 007 मध्य प्रदेश

*

सितंबर-अक्तूबर अंक। कवर के नंदी बैल से लेकर अंतिम पृष्ठ तक की सामग्री ऐसी कि जैसे स्वच्छ शीतल जल में स्नान से मिलने वाली शांति और आनंद। आज दुनिया में चारों तरफ जो घट रहा है वह सब तो हताशा, भय, घृणा, आतंक, अविश्वास से भरा पड़ा है। उसके बीच पत्रिका की सामग्री आशा, अभय, प्रेम और विश्वास के सूत्र हमारे हाथों में देती है।

इस अंक में छपी एक छोटी-सी टिप्पणी मन पर बहुत गहरा असर कर गई। 'विचार का सूखा और डूब'। वर्षा प्रकृति का अनोखा उपकार है। पर आज हमारे शहरों ने अपने को कुछ ऐसा रूप दे दिया है कि जरा भी वर्षा हुई नहीं कि शहर में बाढ़ आ जाती है। ढेर-सी समस्याएं आ खड़ी होती हैं। इस प्रसंग में यह छोटी-सी टिप्पणी इंद्र के पुरंदर रूप का स्मरण करा जाती है। पाठक को मुग्ध कर देती है। पुरंदर की कथा, पुरों को, शहरों को तोड़ने वाले इंद्र की कथा बंगाल में भी है।

वर्षा हमारे पूरे समाज को सींचती है, केवल कृषि को नहीं। समाज की संस्कृति, कला, संगीत, प्रगति– सब कुछ तो इसी वर्षा पर टिका है। एक समय था कि वर्षा का पूरा प्रसंग समाज के हाथ में था। पर अब यह सरकार और निजी हाथों में आ गया है। इससे जो कुप्रबंध हुआ है वह तो है ही पर शहरों और कस्बों की स्थिति तो बहुत ही बिगड़ गई है। हमारे हर शहर धीरे-धीरे इंद्र के बदले पुरंदर के हाथ जाने लगे हैं।

पर हमारे ग्रामीण क्षेत्र अभी इस बुरी हालत में नहीं गए हैं। पुरंदर इसीलिए हमारे गांवों पर हमला नहीं कर पाता। हमारे यहां, विशेष तौर पर वृक्षों की, साल, महुआ की पूजा होती है। पशुओं की उस दिन खूब सेवा की जाती है। उन्हें नहला-धुलाकर बड़े प्रेम से अच्छा स्वादिष्ट भोजन कराया जाता है। और तो और उस दिन उनको खूंटे से बांध कर नहीं रखा जाता। कुछ-कुछ गांवों के बीच गोवर्धन मेला भी लगता है। फिर भी अब शहरों के अवगुण गांवों में भी आने लगे हैं। गांव जैसे थे, वैसे ही नियोजित रहें, शहरों की शहरी जानें, हमारे गांवों में तो पुरंदर बराबर पराजित होंगे।

जया मित्रा,
ए-एस-3/28-2, कल्याणपुर हाउसिंग बोर्ड,
आसनसोल-713304 पं. बंगाल

*

आज उस शख्सियत की जयंती है, जिसे मैंने तस्वीरों में ही देखा। गुनने की कोशिश बहुत की किन्तु मिली ज्यादातर असफलता ही। हम सभी उन्हें महात्मा कहते हैं और आने वाली पीढ़ियां भी जिसे सदियों तक कहती रहेंगी।

पर क्या नई पीढ़ी के मन में हम उस महात्मा को बैठा पा रहे हैं, समझा पा रहे है? उसके आदर्श मूल्य और जीवन जीने की कला को समझ पा रहे हैं? विषय है चिंतन का और मुझे उम्मीद है कि इस पर पूरा चिंतन होगा। हमारी नई पौध वंचित नहीं रहेगी गांधी को जानने से, समझने से और उनके दिखाए मार्ग पर चलने से।

गांधी-मार्ग कुछ वर्षों से मेरे जीवन का हिस्सा बन गया है। जब भी डाक से मिलता है, मैं इसे तुरंत पढ़ता हूं और कुछ दिनों के लिए

तो गांधीमय हो जाता हूं। मेरे इस व्यवहार का कई बार मजाक भी उड़ाया जाता है। किंतु मुझे लगता है गांधी को जानना अपने जीवन को जानना है। इस जीवन के लिए हम क्या-क्या जतन नहीं करते। पर सफल नहीं हो पाते क्योंकि हम उसे समझ नहीं पाते।

आज दो अक्तूबर को एक बार फिर बचपन में लौटने का मन कर रहा है। जब आज के दिन स्कूलों में कार्यक्रम होते थे। हम सभी बच्चे उत्साह से भरे होते थे। गांधीजी पर न जाने कितने कार्यक्रम अलग-अलग स्थानों पर होते थे। दिल्ली के लालकिले के मैदान में एक बड़ा मेला। गली मुहल्लों में लाउडस्पीकर पर बजते देश भक्ति के गीत। दूरदर्शन लगभग नगण्य था उस वक्त, लेकिन दिन भर रेडियो पर गीत व गांधीजी से जुड़े रूपक प्रसारित होते थे, जिन्हें बाल मन कान लगा कर सुनता था। जगह-जगह गांधी की चर्चा। कुछ करने का जोश। आज पचपन साल की उम्र में पीछे मुड़कर देखता हूं तो बहुत कुछ बदला लगता है।

आज यह सब कहां गया? अखबारों में कुछ विज्ञापन, दूरदर्शन पर एक वृत्तचित्र और चलो छुट्टी। गांधी एक दर्शन है, जीवन है। उठो पहचानो अभी भी वक्त है।

सितंबर-अक्तूबर अंक सामने है। कई बार पढ़ा, गुनने की कोशिश। सभी लेख अच्छे व पठनीय हैं। विनोबाः गूंगे का गुड़ विचारणीय है, पठनीय है। इसे पढ़कर कुछ करने की प्रेरणा मिलती है। साधुवाद।

इसी अंक में 'असाधारण युग के वे साधारण दिन' लेख मन को छू गया। मेरी बेटी मृणमयी 12 वीं कक्षा में उसी स्कूल में पढ़ती है जिसका वर्णन तारा बहन ने किया है। बेटी ने भी यह लेख बहुत उत्साह से पढ़ा और बाद में उसे यह बड़े गौरव की बात लगी कि वह भी उसी स्कूल में पढ़ती है। गांधीजी की मूर्ति भी यहां पर है। लेकिन इस लेख से उसे पता चला कि उसके स्कूल में गांधीजी के चरण पड़े थे। पूरा लेख पढ़कर उसने अपने को सौभाग्यशाली माना है। उसे लगा है कि कहीं न कहीं वह भी तारा बहन के इस संस्मरण के अध्ययन से तारा बहन और बापू से जुड़ सकी है। जैसा गौरव सन् 1948 में बच्चों की एक पीढ़ी को इस स्कूल में मिला था आज चार पीढ़ी बाद फिर से मृणमयी को उसका स्पर्श हुआ है।

उमेश मेहता,
यूनीक पब्लिकेशन्स,
3380, हकीम बोका स्ट्रीट,
हौजकाजी दिल्ली-110006

*

विनोबा पर लिखे गए लेख 'गूंगे का गुड़' पढ़कर एक बेहद सुखद अनुभव हुआ। जीवन के कई बिंदुओं पर फिर से विचार करने की जरूरत भी महसूस हुई। हमारी नई पीढ़ी में कईयों को तो शायद विनोबा का नाम और संदर्भ भी ठीक से मालूम नहीं। पहली बार स्वयं मुझे भी विनोबा के विचारों को जानने का अवसर करीब तीन साल पहले गांधी-मार्ग में ही छपे विनोबा के लिखे लेख 'संस्थाएं नारायण परायण बनें' से मिला था। विनोबा के 'गणसेवकत्व' की अवधारणा बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ विनोबा के लिए ,'मास लीडरशिप' न होकर, सभी लोगों का सहविचारक होना बताया गया है और यह जरूरी नहीं कि सबके विचार समान हों। विनोबा ने इसके लिए शरीर की अन्योन्य सहयोग क्रिया का एक बेमिसाल उदाहरण दिया है। हमें अपनी शक्ति का एहसास तो हो परंतु अहंकार न हो। ऐसी अहिंसक क्रांति 'गणसेवकत्व' की भावना में चाहिए।

आज हम एक ऐसे दौर में हैं, जहां संपत्ति को लेकर नई अवधारणा, खासकर 'उदारवादी' संकल्पना के साथ आई व्यक्तिगत संपत्ति की धारणा ने लोगों के मन में गहरी पैठ जमा ली है। शायद इसी का परिणाम है कि लगातार प्राकृतिक संसाधनों (नदी, जंगल, पहाड़ आदि) का अत्याधिक दोहन और व्यवसायीकरण बढ़ता जा रहा है और इसीलिए भ्रष्टाचार के नित नए आंकड़े भी सामने आ रहे हैं। इनके पीछे कहीं न कहीं समय के साथ तेजी से मनुष्य और प्रकृति के बीच बदलता संबंध तथा नैतिक आचरण में आ रही गिरावट की दो बड़ी वजहें मालूम पड़ती हैं। जब हम नदी, जंगल जैसी चीजों को बना नहीं सकते तो उन पर स्वामित्व की बात कहां से आती है?

चाहे वह राज्य हो या फिर बहुराष्ट्रीय कंपनियां। हम कुछ नया सोचने को तैयार नहीं मालूम पड़ते। एक बेहतर समाज के निर्माण हेतु निश्चित ही हमें सोचने का अपना तरीका बदलना होगा। शायद कुछ वैसा ही जैसा विनोबा का विचार रहा है: 'सबै भूमि गोपाल की।

रुचि आनंद,
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

*

सितंबर-अक्तूबर अंक कुछ देरी से मिला। अब इसे पढ़ने का इंतजार करना पड़ता है। कुछ ताजगी या कह लीजिए ताजे हवा के झोके सा एहसास होने लगा है। तीन-चार दिनों में थोड़ा-थोड़ा पढ़कर पूरा करता हूं। और फिर वापस दुबारा भी पढ़ लेता हूं।

एक सुझाव। लेखकों का सुंदर संक्षिप्त परिचय तो मिलता है। पर इसके साथ उनका पता भी मिल सके तो पाठक लेखक के बीच भी संवाद शुरू हो सकेगा। पत्र स्तंभ में पूरे पते मिल जाने से कई पाठकों के बीच पत्र व्यवहार होने लगा है। लेखकों के पते भी उपलब्ध हो जाएं तो एक और सार्थक संवाद के दरवाजे खुल जाएंगे।

'अपनी प्रवृत्तियों से अलग मेरा कोई अस्तित्व नहीं' बहुत अच्छा लगा। 'कबीर का करघा और गांधी का चरखा' लेख में रमेश थानवीजी ने इन दोनों की बात को बहुत गहराई से समझाया है।

आशा है गांधी-मार्ग में इसी तरह की साधारण व सरल भाषा में मन से जुड़ी बातें पढ़ने मिलती रहेंगी। पत्रिका भले ही छोटी हो लेकिन मोटी-मोटी यानी बड़े काम की बातें सिखाती है।

पूरन मर्दा,
7, नालंदा अपार्टमेंट, वर्धमान नगर,
मालेगांव जिला- नासिक-423203, महाराष्ट्र

*

मैं गांधी-मार्ग हमेशा से पढ़ती रही हूं। बहुत बार बहुत कुछ लिखने का मन भी हुआ लेकिन कलम तक जाते-जाते संकोच बढ़ जाता। फिर से मन बनाती तो बहुत देर हो जाती थी। लेकिन इस बार रहा नहीं गया।

जुलाई-अगस्त अंक में श्री कुमार प्रशांत की टिप्पणी सत्यमेव जयते पढ़कर बहुत अच्छा लगा। टी.वी. में आमिर खान के इस कार्यक्रम को देखने के बहुत पहले से दिल में उथल-पुथल मची हुई थी। पहली संतान पुत्र हो तो ठीक, नहीं तो फिर भगवान मालिक। एक लड़की जो आज औरत बनी है वह खुद अपनी लड़की को मार डालती है। यह अपराध उसको करना पड़ता है, इसके लिए हम लोग समाज को दोषी मानते हैं। लेकिन ये समाज भी तो हम लोग से ही बना है। अगर लड़की भी आजीवन माता-पिता के साथ रहकर एक लड़के की तरह उनकी देखभाल करे, व्यवसाय संभाल सके, खुद के पैर पर खड़ी हो सके, मृत्यु का दुखद प्रसंग आने पर एक पुत्र की तरह लड़की भी उनका संस्कार आदि कर सके– तब कहीं जाकर इस समस्या का समाधान थोड़ा बहुत हो सकता है। फिर भी 'सत्यमेव जयते' जैसे कार्यक्रम का प्रभाव लोगों पर पड़ेगा ही।

'कुछ लाख रसोइए चाहिए' लेख भी बहुत ही रोचक लगा। समुद्र में रहने वाले जीव जगत के बारे में इतनी सारी जानकारी एक साथ पहले कभी पढ़ने को नहीं मिली थी। वह भी केवल विज्ञान की तरह नहीं, बल्कि सामाजिक संदर्भ लिए हुए।

अनिता अग्रवाल,
द्वारा- पटवारी हार्डवेयर स्टोर्स,
झाड़ग्राम, मेदिनीपुर, प. बंगाल-721507

*

यह पत्र लिखना मेरी बाध्यता है। उत्कृष्ट और पठनीय साम्रगी से सुसज्जित गांधी-मार्ग आज निर्विवाद रूप से देश की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। इसे पढ़े बिना जानकारी अधूरी रहती है और विचार ठहरे-बंधे हुए से।

राजेन्द्र केडिया,
सी.जी. 130 साल्टलेक सिटी,
सेक्टर-2, कोलकाता-700091

*

मध्यप्रदेश में गेहूँ खरीदी का बना
नया इतिहास
पिछले
सारे
रिकार्ड
टूटे
60
लाख मी. टन
गेहूँ अब तक उपार्जित
7
लाख
किसानों को लाभ
₹8000
करोड़
सीधे किसानों के खातों में
90%
गेहूँ का
परिवहन और भंडारण
फर्क है
मेरा प्रदेश मेरा परिवार
शिवराज सिंह चौहान, मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश
मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी

रजिस्टर्ड नं 4545/57

सन् 1895 में नवंबर महीने में एक प्रयोग के दौरान अनायास ही एक्सरे का अविष्कार हो गया था। फिर आने वाले दिनों में एक्सरे के उपयोग की जैसे होड़ लग गई कुछ उपयोग हुआ, कुछ दुरुपयोग बढ़ा और साथ ही उस दौर के अनेक लालची व्यापारियों ने बाजार को ऐसी चीजों से भर दिया, जिनमें इस चमत्कारिक किरण की उपस्थिति बताई जाती थी। यह जानकर अचरज होगा कि कॉफी बनाने की एक्सरे मशीन, एक्सरे से चलने वाली घरेलू चक्की, एक्सरे बैटरी, एक्सरे टॉर्च, एक्सरे गोल्फ गेंद और तो और सिरदर्द दूर करने वाली एक्सरे गोलियां भी धड़ाधड़ बाजार में आ गई थीं